श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स,
संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी
श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली:—

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोबती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	जगाधरी
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	ज्वालापुर
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन, संघी,	जयपुर

२२	श्रीमान्	मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
३९	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४०	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४१	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बखलाला,	जयपुर
४२	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४३	,, ❀	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४४	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४५	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट:—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।



आत्म-कीर्तन



शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ।। १ ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।। २ ।।

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।। ४ ।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।। ५ ।।

समाधिभक्ति प्रवचन

[प्रवक्ता:— अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज]

स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणं श्रुतचक्षुषा ।
पश्यन्पश्यामि देव त्वां केवलज्ञानचक्षुषा ॥१॥

समाधिभावका देवत्व— समाधि कहते हैं सम्यक् प्रकारसे आधीयमान अर्थात् रखे जाने वाले, संभाल कर प्रवर्तने वाले भावको। अपने आपमें अपना उपयोग ऐसा संभला हुआ रहे कि अपने आपमें ही समाया हुआ हो, जिसमे किसी भी प्रकारका उद्वेग नहीं, क्षोभ नहीं, बाहरका झाँकना नहीं, अपने आपमें रत समाया हुआ जो परिणाम है उसे समाधि कहते हैं। और समाधि ही भगवान है, समाधि ही देव है। तो चाहे समाधिकी भक्ति कहो, वीतरागताकी भक्ति परमात्माकी भक्ति कहो, इसका नाम है समाधिभक्ति। हे देव ! मैं आपको श्रुतज्ञानरूपी नेत्रसे देखता हुआ अब केवल ज्ञानरूपी नेत्रसे देखता हूं, यही भगवानकी भक्ति करनेकी विधि है। बाहरके भगवानकी बात नहीं कही जा रही, स्थापित मूर्तिकी बात नहीं कह रहे, किन्तु भगवत्स्वरूपके दर्शनकी विधि यह है। पहिले भगवानका निर्णय करिये कि भगवान क्या है ? अपने आत्माके अभिमुख सम्वेदन होना, ज्ञान होना, बस ऐसी स्थिति जहां है, उसीको भगवान कहते हैं, वही देव है। हम प्रभुको निरखें तो इस रूपमें निरखें कि प्रभु क्या है ? प्रभुका जो निज आत्मतत्त्व है ज्ञायकभाव आनन्दस्वरूप, उस स्वरूपकी ओर अभिमुख जो सम्वेदन है, ज्ञान है, जिसकी ऐसी समजानकारी है कि जहां उतार-चढ़ाव नहीं, जहां रागद्वेष नहीं, जहां हीनाधिकता नहीं, केवल एक ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्वके अभिमुख सम्वेदन चल रहा है, बस वही देव है।

देवदर्शनविधान— हे देव ! तुमको मैं पहिले तो श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंसे ही देख सकता हूं। यदि यह श्रुत (शास्त्र) न होता, संतपरम्पराओंसे भगवानके मूल आधारसे चला आया हुआ यह ज्ञान न मिलता तो भगवानको मैं कैसे समझ पाता ? तो सबसे पहिले तो श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंसे आपको देख रहा हूं और श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंसे आपको देख रहा, इस देख रहेके बीच ही जब भगवानका और मेरा साक्षात्कार होता है उस कालमें परोक्षता न रहनेसे एक साक्षात् दर्शन अनुभव होनेके समयमें अब मैं

केवल (सिर्फ) ज्ञानरूपी नेत्रोंसे देख रहा हूं। इस ही स्वरूपके निरन्तर देखते रहनेका नाम है समाधिभाव। जब कहा जाए कि अब इसकी आयु अतिनिकट है, मरण होनेमें एक आध दिन और शेष रह गया है तो इसका समाधिमरण कराओ। तो समाधिमरणका अर्थ केवल यह नहीं है कि पानी वगैरह सब कुछ छुड़वाकर इसको ऐसे ही लिटाये रहो। समाधिका अर्थ है ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्माके अभिमुख इसका उपयोग रहे--ऐसी स्थिति इसकी बना दी जाए, यह है समाधिमरण करानेकी बात और यही है उस आत्माका आदर।

समाधिभावके यत्नकी आवेयता और परिजनों द्वारा वास्तविक आदर-- जिस जीवके साथ यह १०-२०-५० वर्षका जीवन गुजरा, जिस जीवसे बड़ा रागस्नेह रखा, जिसे अपना मानकर बड़े संतोष, विश्राम और तृप्तिसे रहे, उस जीवका आदर करना चाहिए। अब मरण समयमें कि जिस प्रकार बने, इस जीवको मुझमें भी मोह न हो। सब परिजनोंको ऐसा सोचना चाहिए कि अब इस जीवको मुझ तकमें भी मोहका भाव न आये। और इसका ज्ञान अपने आपके आत्माके स्वरूपकी ओर बना रहे--ऐसी भावना बनायें और ऐसे उपदेशकोंको ला-लाकर बैठालें, ऐसा यत्न करायें तो यह कहलाएगा अपने परिवारके जीवका सच्चा आदर करना और समाधिमरण कराना। मरण समयमें प्राय कर जीवोंको कुछ न कुछ कष्ट आता है रागका। किस प्रकारकी कब कैसी वेदना आ जाए तो मरण समयमें प्राय ऐसा हुआ करता है। उस समय उन उपसर्गोंको सह सके, उन व्याधियोंको सह सके, इस प्रकारका अपना ध्यान और उपयोग बनाना चाहिए।

एकमात्र समाधिभावकी शरण्यता-- इस जीवका शरण केवल समाधिभाव है और यह समाधिभाव मरणके समय ही किया जाए, सो बात नहीं, प्रति समय किया जाए, क्योंकि सब जीवोंका प्रतिसमय मरण हो रहा है। जैसे जो आजका मेरा दिन गुजरा, वह आजके दिनका मेरा मरण हो गया कि नहीं? लोग कहते हैं कि अब हमारी उम्र ५० वर्षकी हो गई तो हम ५० वर्ष मर गए कि नहीं? मानों किसीकी कुल आयु ६० वर्षकी हो है और उसके ५० वर्ष व्यतीत हो गए तो ५० वर्ष तो वह मर गया। केवल १० वर्ष उसके और शेष रह गए। तो इस जीवका जो क्षण प्रतिक्षण गुजर रहा है, वह उसका मरण है। यह तो है समयकी अपेक्षा मरण और विकल्प, विषय, कषाय, चिन्ता, शल्य, बाह्यपदार्थोंकी दृष्टि जो हो रही है, यह हो रहा है भावमरण। तो ऐसे इस मरणके समय समाधिभावका आदर करना चाहिए। हम आपको एक समाधि ही शरण है।

दूसरोकी दृष्टिमें इज्जत चाहनेका असमाधिभाव— समाधिसे विपरीत अन्य भाव जैसे कि अनेक मनुष्य सोचते हैं कि समाजमे अगर इज्जतसे जिये तो वह जीना है। और उनकी वह इज्जत क्या? दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें हम इज्जतसे जियें, इसका अर्थ यह है कि दूसरे लोग हमको कुछ अच्छा मानें और दूसरोंमें हम बड़े कहलायें। दूसरे सब लोग मान जाएँ कि हाँ, यह हैं नेता, यह हैं बडे अधिकारी। इनके हाथमे बड़ी-बड़ी ताकते हैं। बस ऐसा कुछ लोग कह दे, मान जायें, इसके मायने हैं दुनियामें इज्जतसे जीना। लेकिन जो लोगोंकी निगाहमें इज्जतसे जीना चाहता है, उस पर मिथ्यात्व ही तो लदा हुआ है। ये लोग मुझे समझे तो मेरा सुख है। मेरा हित हो तब तो मैं सचमुचमें कुछ हू—ऐसी वासनामें इस जीवने आपके स्वरूपकी सुधि बिल्कुल खो दी है।

दूसरोको अनुकूल कर सकनेकी अशक्यता— और भी देखिए कि दूसरे लोग ये सब भिन्न पदार्थ हैं और साथ ही ये हैं चेतन। इनके लगे हैं विषय कषाय, इनमें बसी है खुदगर्जी, सो इनको मानना, इनको अनुकूल करना, यह तो जिन्दा मेढ़कोंको तौलनेकी तरह है। बहुतसे मेढक जहां उछल-कूद रहे हों, वहां कोई सोचे कि मैं एक किलो जिन्दा मेढक तौल लूँ तो वह तौल नहीं सकता। कुछ मेढ़क तराजू पर वह रखेगा तो कुछ मेढ़क उछल जायेगे अथवा तराजू पर ही उछलते-फुदकते रहेंगे। उनकी सही तौल करना कठिन है। इसी तरहसे इन चेतनोंको अनुकूल बनाना, इनको मनाना कठिन है।

खुदगर्जीसे शरणमे आने वालोंके प्रति मोहियोंका भ्रमवश मोह— बडे-बडे दुनियाके नेता, अधिकारियोंके प्रति भी यदि कुछ लोग अनुकूल बनते हैं तो वे अपने स्वार्थ, अपने किसी प्रयोजनके कारण बनते हैं। जब किसी छोटे बच्चेको कोई शरण और जगह नहीं दिखती, सो वह अपने पापासे चिपटकर बैठता है और यह पापा (पापस्वरूप) मानता है कि यह बच्चा मुझसे बड़ा प्रेम करता है, यह बड़ा प्यारा है और वहां वह लड़का प्यारसे नहीं आया पापाके पास। उस बेचारेको यही शरण जँच रहा है कि यही मेरी रक्षा है और वह पापा पापस्वरूप बनकर मानता है कि यह बच्चा मुझसे बड़ा स्नेह करता है। तो बडेसे बडे दुनियाके नेता और अधिकारी के प्रति भी अगर कोई कुछ अनुकूल बनता है तो उसके प्रेमसे अनुकूल नहीं बनता, किन्तु वह खुदगर्ज है, जिससे प्रेरित होकर वह चेष्टा करता है। तो दुनियाकी निगाहमें हम इज्जत वाले बनें, इस भावसे प्रेरित होकर अपने स्वरूपसे चिग-चिगकर बाहरमें कितने विकल्प किया करते हैं? यह है समाधिका उलटा भाव।

समाधिके अनुकूल और प्रतिकूल भावका विवरण— अब देखिए कि समाधिके अनुकूल भाव क्या होता है ? मैं अपनी निगाहमें इज्जत वाला बन जाऊँ, दुनिया मुझे इज्जत वाला समझे या न समझे, उससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं, किन्तु मैं तो अपूँ अपने आपके लिए कि मैं ठीक जिन्दगीसे जी रहा हू, मैं अपने आपमें अपना ठीक काम कर रहा हू, वह है खुदका जीना। और वह है क्या ? समाधिभाव। जरासा बड़प्पन मानकर थोड़ी थोड़ी बातमें गुस्सा आ जाना और गुस्सा लाकर साथ ही यह भी समझ बनाते हैं कि मैं बिलकुल ठीक गुस्सा कर रहा हू। आखिर इसको यों करना चाहिए, इसकी गलती है, इसकी असभ्यता है, इसको दण्ड दूं, इस पर गुस्सा करूँ तो मैं बड़ी समझदारी कर रहा हूं। यद्यपि गृहस्थीमें कुछ पद ऐसे होते हैं कि दण्ड देना चाहिए न दें तो उस पर अन्याय है। तो यह एक कर्तव्यकी बात है, लेकिन चित्तमें ऐसा भ्रम होना कि इस पर मेरा अधिकार है, यह ही मेरा सब कुछ है, इससे ही मेरा बड़प्पन है, इससे ही मेरी जिन्दगी है और फिर उनकी कोई प्रतिकूलता होने पर क्रोध आए तो यह समाधिसे बिल्कुल विपरीत भाव है।

पात्रोंके प्रति ज्ञानियोंका वर्ताव— जैसे साधुसंगमें जो आचार्य होता है, वह अनेक मुनियोंको शिक्षा और दण्ड भी देता है और क्रोध भी करता है, लेकिन उनके पीछे नहीं पड़ता है। वे शिष्यमुनि विनयपूर्वक अपने कल्याणकी चाहसे निवेदन करते हैं कि हे महाराज ! आप ही शरण हो। तो इतनी उनकी जिज्ञासा समझते हैं, तब आचार्य उनको कृपा करके दण्ड आदिक देते हैं। पर मान न मान, मैं तेरा महिमान— यह प्रवृत्ति आचार्योंकी नहीं होती कि जबरदस्ती ७ मुनि तो संगमें कर ही लें। लोग कहेंगे कि यह सप्तऋषिसंग है। उनमें कोई भागने लगे तो मनायें, हमारे संगमें कमी न हो जाए, इसलिए उनको मनाते फिरें अथवा उनको इसीलिए प्रसन्न रखनेकी फिकरमें रहें— ऐसा वे आचार्यजन नहीं किया करते। हाँ, कोई मुनि कई बार कहे कि हे महाराज ! हम अब इस संसार से बहुत ऊब गए हैं, मुझे अब संसारकी किसी भी चीजकी चाह नहीं रही, आप हमें अपनी शरणमें लीजिए। तब वे आचार्य करुणा करके उनको शिक्षा दीक्षा और दण्डादि देते हैं। यह बात तो है साधुजनोंकी, लेकिन जैसा साधुजन करते हैं, परजीवके प्रति वही विधि तो किसी न किसी अंशमें गृहस्थोंको होनी चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्वकी पद्धति तो एक है। साधुका जीवन और है, गृहस्थका जीवन और है, मगर साधुकी और गृहस्थकी आदत एक है।

ज्ञानी गृहस्थ और साधुजनोंकी परके प्रति निवृत्तिपरताकी पद्धतिमें समानता— साधु अपने समागममें, प्राप्त चेतन अचेतन पदार्थोंमें ममत्व नहीं रखते। देखो साधुजन पिछी, कमण्डल, पुस्तकके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रखते। चेतन हैं शिष्यजन। उनके समागममें वे आचार्य रहते हैं, फिर भी उनसे उदास और निवृत्त रहते हैं और उनकी जिज्ञासाको निरखकर उनकी विशुद्ध भावना निरखकर उनसे प्रीति भी करते हैं तथा दण्ड भी देते हैं—ऐसे ही गृहस्थजन भी जो उनको समागम प्राप्त हैं, जैसे खेत, मकान, धन, धान्य, दासी, दास, बर्तन, जेवर, परिजन आदिक। तो गृहस्थ इनमें रहकर भी इनसे निवृत्त रहें, उदासीन भावसे रहें, उन सबके प्रति अपना यह ज्ञान जागृत रखें कि मैं तो केवल इतना ही 'मैं' हूं। मेरा तो केवल अपने आपका गुणपर्याय है, यह तो प्रतीति रखें। और वे परिजन धार्मिक हैं, वे चाहते हैं कि मैं भी धर्ममार्गमें लगता रहूं, ऐसा समझकर गृहस्थीके योग्य कर्तव्य निभाकर अपने घरके बड़ेके प्रति एक यह भाव बनाये कि मेरे उद्धारके लिए आप शरण हैं। तो अन्तरमें निवृत्ति रखते हुए वे परिजनसे स्नेह करते हैं। यदि घरके उस बड़ेके कहने में उसके पुत्रादिक नहीं हैं, विपरीत मार्गमें चलते हैं तो फिर वह उनके पीछे क्यों हैरान हो? मगर मोही गृहस्थ तो मान न मान, मैं तेरा महिमान बनकर रहता है। उस गृहस्थके घरके लड़के, लोग चाहे उससे बिलकुल विपरीत चलें, कष्ट भी दें, फिर भी वह बाप उन्हें अपना मानता है। तो इस गृहस्थका वह जीवन किस कामका?

हार्दिक विनय तक सुधारकी पात्रता— गृहस्थका कोई पुत्र कुछ समझ सकने योग्य है, अच्छा बननेका पात्र है। तो मानों आज वह पुत्र विपरीत मार्ग पर है तो वह कभी अच्छा भी हो सकता है। एक सेठका लड़का वेश्यागामी था। सेठके एक मित्रने कहा कि आपका लड़का वेश्यागामी है। सेठने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। मित्रने कहा कि चलो, हम चलकर दिखायेंगे। वह सेठको लेकर चल दिया। उसने वेश्याके घरसे कुछ दूर खड़ा होकर दिखा दिया कि वह देखो, वेश्याके घर पर अपना लड़का। सेठने भी देख लिया। उस समय उस सेठके लड़केने अपने पिताको देख लिया और तब वह लड़का इतना शर्मा गया कि अपने हाथकी अँगुलियों से अपने नेत्र बन्द कर लिए और तुरन्त घर वापिस लौट आया। सेठ भी घर लौट आया। मार्गमें सेठके मित्रने कहा कि देखो मैं कहता था ना कि तुम्हारा लड़का बिगड़ गया। तो सेठ बोला कि अभी हमारा लड़का बिगड़ा नहीं। वाह कैसे नहीं बिगड़ा? हमने तो आपको वेश्याके घर जाते दिखा दिया। तो सेठ बोला कि अभी हमारे बेटेमें आन है। बादमें

सेठने उस बेटेको बुलाकर कुछ समझाया तो वह बेटा पहिले तो कुछ लज्जितसा हुआ और बादमें प्रतिज्ञा की कि आजसे मेरा जीवनभरके लिए उस कामका त्याग है। तो यों ही समझिये कि जब तक शिष्यमें आन है, तब तक आचार्यजन उसे अपने पास रखते हैं, उसे शिक्षा, दीक्षा, दण्ड आदि देते हैं। नहीं तो आन न रहने पर आचार्यजन अपने शिष्योंके पीछे नहीं पड़ते।

ज्ञानी साधु श्रावकोंमे निवृत्तिपरताकी प्रकृति— भैया ! चाहे गृहस्थ हो या चाहे साधु, सम्यग्दृष्टियोंकी प्रकृति निवृत्तिपरक होती है। फर्क पड़ जाता है केवल समागमसे। साधु है निर्ग्रंथ तो उसकी और तरहके स्नेह, राग और प्रवृत्तियाँ होती हैं। और गृहस्थके हैं बहुतसी खटपटें तो उसकी और तरहकी प्रवृत्तियाँ होती हैं। लेकिन परिग्रहसे निवृत्त रहनेकी भावना और अपने आत्माके अभिमुख उपयोग लगाये रहनेकी बात गृहस्थके भी बराबर रहती है, जो कि सम्यग्दृष्टि है। और इस वातावरणके द्वारसे देखो तो साधु संतको अपनी समता बनाये रखनेमें कठिनाई नहीं पड़ती, क्योंकि न दूकान है, न रोजिगार, न सम्बन्ध, न नाते-रिस्ते, न कोई भार। पक्षीकी तरह फिरते हैं। जैसे पक्षी जब तक मन लगा तो बैठा है, मनमें आया तो फुर्रसे उड़ गया, चल दिया, इसी तरह जब तक परिणाम लग रहा है ठीक, तब तक रह रहे हैं, मन आया तो चल दिया। यों पक्षीवत् जिनका विहार है और जैसे पक्षी कहीं एक ही जगह नहीं रह जाता, उसकी आदतमें एक जगह रहना नहीं है, वह उड़कर जायेगा कहीं न कहीं और फिर लौटकर चाहे आए; इसी तरहका जिन साधु-संतजनोंका स्वतन्त्र विहार है, उन्हें समतापरिणाम रखनेमें कठिनाई नहीं पड़ती। मगर गृहस्थोंको तो बड़ा उपसर्ग है। साधुजन २२ परीषह जीतते हैं तो श्रावकोंको हजारों परीषह जीतने पड़ते हैं। कितने नटखट, कितने समागम, कितने उपयोग हैं और उन सबसे घबड़ाना नहीं, उन सबके बीच भी अपने आपको अपने आपमें रमाये। बाह्यपदार्थोंमें मोह, स्नेह रमाकर अपनी स्वरक्षाको खतरेमें न डालें। तो गृहस्थको तो बड़े-बड़े उपसर्गों पर विजय करनी पड़ती है। तो ऐसा जो समाधिभाव है, समतापरिणाम है, वही एक शरण है हमें आप सबका। समाधिभावसे विपरीत अन्य कुछ भी हम आपका शरण नहीं है।

अपने जीवनमे एकमात्र कर्तव्यके निर्णय का यत्न— भैया ! अपनी जिन्दगीका निर्णय बना ले कि हमें करना क्या है जीवनमें ? मोही, कर्मके प्रेरे, जन्म-मरणके दुखिया, स्वयं अशरण अनेक पापकर्मको बसाने वाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मनुष्योंमें अपनी इज्जत बनानेके लिये यह हम

आपकी जिन्दगी है या सहजानन्द स्वरूप ज्ञायकभावमय आकाशवत् अमूर्त निर्लेप, दुनियाको अवक्तव्य और अपने आपकी दृष्टिमें समझमें आ सकने वाले इस निज आत्मदेवकी निगाहमें अपने को परमार्थ इज्जत वाला रखने के लिए जीवन है। बस, इन दो निर्णयोंसे कोई निर्णय बना लीजिए। जिसमें कल्याण जँचता हो, जिसमें तत्काल शान्ति भी जंचती हो वह निर्णय कर लीजिए। जिस वातावरणमें, जिस प्रक्रियामें अपना उपयोग अपने आपके निकट रहे, करना ही होगा। संगसे हटकर, उस प्रक्रियासे हटकर जहाँ बेतुके अटपटे नाना मोहियोंके दर्शन होते, व्यवहार होते, बातचीत होती, वह सब वह वातावरण यदि दुनियावी इज्जत बढ़ानेके लिए प्रेरित करता है, तब यों समझिये कि रोज भूल करना और उस भूलकी थोडेसे जरासे समयको अपनी सूचना दे देना, बस ये ही दो काम किए जा रहे हैं। जो गृहस्थ सावधान हैं, धर्मकी ओर जिनकी प्रीति है वे क्या काम करते हैं? १०—१५ मिनट तो इन चौबीस घंटोंके अन्दर अपनी भूलकी याद कर लेते हैं। वह सब भूल थी और फिर उसके बाद फिर भूलमें लग जाते हैं और अनेक जीव तो ऐसे हैं कि भूलोंमें ही २४ घटे हैं, १० मिनट भी भूल माननेको तैयार नहीं होते। इस भूलमें, इन समस्याओंमें हम आपको कोई तत्त्व न मिलेगा। समाधिभावका आदर करो।

परमार्थदेवोपासना—अपने भीतर तो निहारो कि मैं हू क्या? क्या मैं कोई रूप, रस, गंध, स्पर्शात्मक पिण्ड हू? नहीं मैं हू एक जाननभाव। उसे क्या बतायें? वह तो अमूर्त है, पर सद्भाव जरूर है। हू ना मैं जिसमे सुख दु:खका अनुभव होता है। मेरा अस्तित्व तो है लेकिन वह जाननभावरूप मेरा अस्तित्व है। उस स्वरूपकी ओर अपना ज्ञान लगे तो यही है आत्मदेव और समाधिभाव। सो हे देव! निज आत्माकी ओर सम्वेदनस्वरूप में तुमको ज्ञानरूपी नेत्रसे देखते-देखते केवलज्ञानरूपी नेत्रसे देखता हू। यह है समाधिका सच्चा अभिनन्दन। मुँहसे किसीकी बात माननेकी अपेक्षा उसको कोई कर दे तो वह है सच्चा आज्ञा का मानना। कोई हुकुम दे और किसी ने कह दिया जी हजूर, और वह करे धरे कुछ नहीं तो आप उसको कहेंगे क्या ऐसा कि यह बड़ा हुकुम मानने वाला है? ऐसे ही कोई भगवानकी भक्ति तो खूब करे और तीन लोक के नाथकी जीहजूरी भी करे और उनकी बात एक भी न माने तो इसे प्रभुभक्ति न मानना चाहिये। प्रभुभक्ति तभी है जब हम श्रुतज्ञाननेत्र से तत्त्वनिर्णय करके फिर ज्ञानरूपी नेत्रमें उस देवका दर्शन करें जो एक निज आत्मतत्त्वके सम्वेदनरूप है, ज्ञानस्वरूप है। सो हे नाथ! मैं अब

आपको ज्ञानरूपी नेत्रसे देखता हू ।

समाधिभावकी प्राप्तिके अर्थ साधकका उद्यमन—समाधिभाव प्राप्त करने के लिए अर्थात् अपने आपमें अपने आपको समा देनेके लिए प्रथम तो यह चिन्तन होना चाहिए कि मैं ही यह मैं हू— इस प्रकारका जो अपने आपके सम्बन्धमें अपने आपका ज्ञान किया जा रहा है, यह मैं ही मैं हू, ज्ञानघन आनन्दधाम अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वरूप मात्र अपने आपको निरखकर 'यह ही मैं हूं' इस तरहके आत्मज्ञानके सिवाय अन्य कहीं भी अपनी बुद्धिको न लगायें, जो पहिले बुद्धियाँ जगती थीं मैं इसको करता हू, मैं इसको भोगता हू इन बुद्धियों को ज्ञानबलसे समाप्त करें, मैं चित्स्वरूपमात्र हू और परिणमता रहता हू, वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है कि वह है और परिणमता रहता है । पदार्थमें ये दो ही बातें हैं पदार्थ है और प्रतिसमय परिणमता रहता है । सभी पदार्थोंकी यही बात है, तो यह मैं भी हू और परिणमता रहता हू । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ बात नहीं है । मेरेसे बाहर मेरा अन्य कुछ नहीं है, तब फिर मैं किसे करता हू ? करनेका भाव भर बना रहा हू । जब कभी भी मैंने बाहरमें कुछ किया तो किया नहीं किन्तु बाहमें करनेका भावभर बनाया था, सो वह भाव भी व्यर्थ था· वह भाव भी अनर्थ था, क्योंकि जो बात की नहीं जा सकती और उसके करनेका विकल्प लादना यह तो दुखके लिए था । मैं केवल भाव भर बनाता था जो कि झूठ था, अनर्थ और व्यर्थ था, उसका छोड़ना है । तो अनर्थ, व्यर्थ, मिथ्या, विपत्तिके घरको छोड़नेमें तो कोई कठिनाई न आनी चाहिए । तो मैं बाहरमें इसको करता हू, इसको भोगता हू, इस प्रकारके विकल्पको खतम करें और यह मैं ही मैं हू ऐसे अपने चित्स्वरूप को निरखकर अपने आपमें अपना ध्यान बनायें ।

समाधिभावमें अहके विकल्पका भी प्रशम—अपने आपमें अहरूपसे आत्मज्ञान करनेके बाद फिर समाधि होनेके लिए जो कुछ होना चाहिए वह सहज होता है । यत्नकी बात तो यहां तक है । परसे विकल्प हटाकर अपने आपमें अपना उपयोग लगाना, अपने सहजस्वरूपको निरखना, इस यत्नके बाद क्या होगा कि मैं ही यह मैं हू, इस प्रकारकी जो अब भीतर के जल्पसे सबधित कल्पनायें हुई उनका भी त्याग हो जायेगा, वे कल्पनायें भी मिट जायेंगी और उसी समय जो कुछ वचनोंके अगोचर परमज्योति स्वरूपका दर्शन होगा बस उस ही को यह अनुभवता है, यही समाधि भावका एक मर्म है । ऐसी स्थितिमें सामर्थ्य है कि भव भवके बाधे हुए कर्म कलक भी झड़ जाते हैं । ऐसा सहज शुद्ध जो कि इस स्वानुभूतिके कालमें अनुभवमें आ रहा है उस सहज शुद्ध अतस्तत्त्वमें जो उपयोगको

लगाता है यह सिद्ध हो जाता है। केवल अपने सत्त्वके कारण जैसा स्वय है एक प्रतिभासस्वरूप उसे जो उपयोगमें लेता है वह ऐसा ही व्यक्त सिद्ध हो जाता है।

स्वच्छताका संकेत—देखिये जैसे दर्पणका निजी तो है स्वच्छ स्वरूप, अब उसमें प्रतिबिम्ब आये या मैल जमे तो यह है बाहरी दोष। यह दर्पणके स्वरूपका दोष नहीं है। बल्कि यह जो दोष आया है, यह भी, दर्पणकी स्वच्छताको जाहिर कर रहा है। प्रतिबिम्ब कहीं भींतमें तो नहीं आ जाता दर्पणमें प्रतिबिम्ब आया है तो यह प्रतिबिम्बका आना यद्यपि उस कालमें स्वच्छता का निरोधक है। जहां प्रतिबिम्ब है वहाँ स्वच्छता नहीं रही, लेकिन यह प्रतिबिम्ब स्वच्छताका सूचक है। न होती दर्पणमें स्वच्छता तो यह प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता था। यों ही अपने आत्मामें निरखिये कि इसका स्वरूप केवल प्रतिभासमात्र है, चैतन्यमात्र है। चेते, जाने, देखे, ऐसी चैतन्य स्वच्छतापर ये रागादिक विकार आ गए हैं तो जिस कालमें विकार हैं, जितने अंशमें विकार हैं, जिस उपयोगमें विकार हैं वहाँ आत्माकी वह प्रतिभास स्वरूप स्वच्छता नहीं प्रकट है, लेकिन ये विकार भी आत्माके प्रतिभास स्वरूपताका समर्थन करते हैं। न होती आत्मामें चेतना, न होता आत्मामें चित्प्रतिभास तो ये विकार कहाँसे आ सकते थे? कहीं रागद्वेषादिकके विकार जड़ पदार्थोंमें तो नहीं आया करते। तो ये विकार भी जीवके उस सहजस्वरूपका संकेत करा रहे हैं, पर संकेतको तो वही समझ सकता है जिसने मर्म जाना हो। संकेत तो संकेत ही है। संकेतके मर्मको जानने वाला ही संकेत समझ सकता है।

अविकारस्वरूपके अनुभवका यत्न—हमारा यह कर्तव्य है कि इन विकारभावोंसे हटकर हम स्वच्छताका स्पष्ट अनुभव करें, एक अपने आपमें पहिले तो यह ही मैं हूं, जितना जैसा अपना सहज स्वरूप है उस स्वरूपमें अहंका अनुभव करें और उसके बाद फिर स्वयं ही यह मैं हूं, इस प्रकारकी जो भीतरमें अन्तर्जल्पके द्वारा कल्पनायें उठ रही थीं, उनका भी परिहार होता है और वहाँ ऐसे आत्मतत्त्वसे जो न मोह करता, न राग करता, न द्वेष करता, सर्वविकारोंसे परे, अविकारी ज्ञायकस्वरूपका दर्शन होता है, ऐसी स्थितिको कहते हैं समाधिभाव। तो हे देव! अपने आत्मा के अभिमुख जिसका ज्ञान वर्त रहा है, जो ज्ञान वर्त रहा है, ऐसे हे देव! तुमको मैं प्रथम तो श्रुतज्ञानरूपी नेत्रसे देख रहा हूं और श्रुतज्ञानरूपी नेत्र से देखता हुआ यह मैं अब केवल ज्ञानपुञ्जको ज्ञानचक्षुसे देख रहा हूं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के विशुद्ध अवलम्बनके बलसे समाधिभावका अनुभव— अपनी वर्तमान अवस्थामें पदार्थोंके जाननेके उपायभूत दो ज्ञान

हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। इनका उपयोग यहीं पर लो। विषयभेदसे इनकी पद्धतिमें भेद हो जाता है। यदि विषयभूत पदार्थोंके साधनोंमें उपयुक्त ज्ञान है, वहाँ श्रुतज्ञानका उपयोग किया तो वहाँका वातावरण दूषित और आकुलित हो जाता है। और जब केवल आत्मस्वरूप पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका उपयोग किया जाता है तो शान्तिका वातावरण छा जाता है। प्रथम तो मतिज्ञान द्वारा आत्माके सम्बन्धमें थोड़ा मानसिक सम्वेदन चला, फिर उस पर जो गहरा चिन्तन चला, वह श्रुतज्ञानके प्रसादसे चला। श्रुतज्ञानके प्रसादसे चिन्तन चलते-चलते फिर दर्शन हुआ और उस दर्शनपूर्वक मतिज्ञान हुआ, जो अति निर्विकल्प स्थितिके सम्मुख आया, वहाँ वह मतिज्ञानका भी उपयोग छूटकर केवल ज्ञानचक्षुसे ही जो निरखा जा रहा है प्रतिभासमात्र, वह स्थिति है स्वानुभूतिमें। स्वानुभूतिके समय चूँकि निर्विकल्प स्वसम्वेदनरूप मतिज्ञानसे यह स्थिति प्राप्त हुई है, इस कारण उसे मतिज्ञानमें गर्भित कर ले तो कर ले, किन्तु वह तो एक अलौकिक स्थिति है। ऐसे उस स्वात्माभिमुख स्वसम्वेदनरूप निज निधि को मैं देखता हूं। ऐसे उत्कृष्ट पवित्र समाधिभावकी अभिलाषा रखने वाले सतजन प्रयत्न तो उस ही समाधिभावके लिए करते हैं, किन्तु ऐसा प्रयत्न यदि अन्तर्मुहूर्त भी चले तो उन्हें केवलज्ञान हो जायेगा, पर जहाँ कषायके उदय चल रहे हैं, वहाँ इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त भी नहीं हो पाती। जब विकल्प आते हैं, उन विकल्पोंके समय समाधिभावका इच्छुक संत क्या भावना करता है, उसकी इस भावनावोंको अब इस अगले छंदमें कह रहे हैं—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः सङ्गतिः सर्वदार्यैः।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे।
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः॥२॥

समाधिके उपासककी सात भावनायें— हे देव ! जब तक मेरा अपवर्ग न हो जाए, मोक्ष न हो जाए, तब तक ये ७ बातें मुझे भव-भवमें प्राप्त होती रहें। अपवर्ग कहते हैं वर्गरहित स्थितिको। वर्ग मायने क्या है? ये तीन—धर्म, अर्थ और काम। वर्गका सम्बन्ध गृहस्थसे रहता है। इन तीन वर्गोंसे सम्पूर्णतया रहित जो स्थिति है, वह है अपवर्ग। संसारके प्राणी धर्म, अर्थ, काम—इन तीन वर्गोंमें अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने विकल्प ही बनाये रहते हैं। उन तीन वर्गोंसे जो अपगत हो गया हो, उसे कहते हैं मुक्त जीव। तो ऐसी मुक्त स्थिति जब तक मुझे प्राप्त न हो, तब तक मुझे भव-भवमें ये ७ बातें प्राप्त होती रहें। साधकके उद्देश्यमें अप-

सबसे बढ़कर और कुछ सम्पत्ति नहीं है। केवल खालिस शुद्ध आत्मा रह गया, कोई झगड़ा ही साथ नहीं, उपयोग ही कहीं नहीं लगता। केवल एक शुद्ध ज्ञान प्रतिभासमात्रका निरन्तर सम्वेदन किया जा रहा है और वहाँ बिना ही आकाक्षाके तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं—ऐसी स्थिति ही विवेकी सत पुरुषको आदरणीय होती है।

ज्ञानका सहज बृंहण और सहज आनन्दका शाश्वत लाभ— यह ज्ञानका स्वरूप है कि जब स्वच्छ ज्ञान हो तो अवश होकर समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ ज्ञानमें झलकें, वरना इसकी जरूरत कुछ नहीं। भगवानको जो आनन्द आया है, सहज अनन्त आनन्द जो उमड़ा है, वह समस्त-पदार्थोंके जाननेके कारण नहीं, किन्तु अपने आपमें अपनेको समा लेनेके कारण जो निर्विकारता उत्पन्न हुई है, उसका आनन्द है और साथ ही वह आनन्द कभी बिखर न जाए, उस आनन्दमें कभी कमी न आ जाए, इसके लिए नियन्त्रण है केवलज्ञान। जब तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ ज्ञानमें आ रहे हैं तो इच्छा उत्पन्न होनेकी वहाँ गुंजाइश नहीं है। इच्छा तब हुआ करती है, जब कुछ तो जाननेमें आ रहा है और कुछ नहीं जाननेमें आ रहा है। जिसको त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात हैं, अब उसके इच्छाकी गुंजाइश नहीं। एक तो वैसे ही विकार रहित एक बार हो चुकनेके बाद पुनः विकारका कारण नहीं है, अतएव विकार नहीं आ सकते। फिर भी इस दृष्टिसे देखें कि जब कुछ ज्ञान हो, कुछ न हो, ऐसी स्थिति इच्छाको उत्पन्न होनेके लिए प्रेरणा दिया करती है। संसारी जीवोंकी इच्छा इसी-बुनियाद पर बराबर चलती रहती है। यदि स्पष्ट असीम पूरा ज्ञान हो कि सब कुछ यह होनेको है तो उसके इच्छा न रहेगी। तो प्रभु ऐसे अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्दसे सम्पन्न हैं और सदा रहेंगे। ऐसी स्थिति जब प्राप्त हो जाती, तब किसी चीजकी इच्छा हो ही नहीं सकती।

अपवर्ग प्राप्त होने तक सपूजनककी भव-भवमें सात बातोंकी अभ्यर्थना— ये जो ७ बातें चाही जा रही हैं, जो भावना की जा रही है, वह सदाके लिए नहीं कहा जा रहा कि हे प्रभो! भव-भवमें मुझे ये ७ बातें मिलती रहें। यद्यपि ये ७ बातें अच्छी कही जायेंगी, जैसे—शास्त्रस्वाध्याय, प्रभु-भक्ति आदिक, लेकिन इन्हें भव-भवके लिए चाहनेका अर्थ है भवका चाहना। वह चाह-रहा है मानों ससार। मेरे खूब जन्म हों और प्रत्येक जन्ममें प्रभुभक्ति मिले। तो जिसको भवकी चाह है, उसको प्रभुभक्ति मिलना कठिन है। इसी कारण यह कहा गया है कि हे प्रभो! जब तक मेरा अपवर्ग न हो, तब तक जितने भव शेष हों, उन सब भवोंमें मुझे ये

सात बातें प्राप्त हों।

सपूजककी शास्त्राभ्यासभावना— अभ्यर्थनीय ७ तत्त्व क्या हैं? तो प्रथम कह रहे हैं शास्त्राभ्यास। शास्त्राभ्यासका कितना महत्त्व है, यह वही परख सकता है जिसने कुछ शास्त्राभ्यास किया है। शास्त्राभ्याससे रहित लोग इसके महत्त्वको नहीं जान सकते। कब तक बीसों-पचासों वर्ष मंदिर में आते रहे--ऐसे अनेक लोग मिलेंगे, जिनसे पूछा जाए कि सम्यक्त्व किसे कहते हैं? सम्यक्त्वके कितने अंग हैं? श्रावकके कितने व्रत हैं? इनका नाम तक भी न याद होगा। तो उन्होंने यह पद्धति तो अपनाई कि मंदिरमें आना, जाना, पूजा करना, रहना; लेकिन ज्ञानमार्गमें, ज्ञानप्रकाशमें कुछ भी कदम न बढ़ा सके और तब ऐसी स्थिति रहती है कि जैसे थे, तैसे ही हैं। जैसे-जैसे जिन्दगी गुजरती है, अवस्था बढ़ी होती है तो परिग्रह, संग, समागम अधिक हो जाता है तो कहो पहिलेसे भी हीन स्थिति हो जाए धर्मके मार्गमें। और शास्त्राभ्यासका महत्त्व वे तो न समझ सकेंगे, किन्तु जिन्होंने थोड़ा भी विवेक किया है, समझा है कि अहो! प्रभुके शासनमें वस्तुका कैसा विशुद्ध स्वरूप बताया है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपास्तित्वको लिए हुए है। स्वयं ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। सहज ही यह है और परिणमता रहता है। यही बात समस्त पदार्थोंकी है। ऐसा ज्ञान होनेसे फिर मोह नहीं रहता। जान लिया कि समस्त पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र हैं। जब एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वामित्व कुछ भी नजरमें नहीं आ रहा तो मोह कहाँ विराजे? और मोह ही इस जीव पर सबसे बड़ी विपदा है। वह विपदा जिस ज्ञानसे मिटे- उस ज्ञानकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है?

अहिंसाणुव्रतका उपदेश देने वाले शास्त्रका आभार— ज्ञानकी तो महिमा है ही और अपने आपके स्वरूपमें पहुंचनेके लिए जो चारित्रकी विधि बताई गई है—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत। श्रावकके इन १२ व्रतोंके माध्यमसे जो पात्रता करायी गई है, वह भी एक अपने महत्त्वकी बात है। गृहस्थधर्ममें कितनी उत्तम विधिसे शिक्षाकी बात दी गई है—अरे! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंसे दूर हो। पूर्णतया दूर नहीं हो सकते हो, तो एक देश दूर हो। देखो— त्रस जीवोंके वध करनेसे तुम्हें कौनसा लाभ मिलेगा? क्या त्रस जीवोंके वध बिना खूब अच्छी प्रकारसे जीवन नहीं चल सकता? हाँ, थोड़ा गृहस्थावस्थामें इतनी विवशता अवश्य है कि आग जलाये बिना, पानी भरे बिना, मिट्टी लाये बिना, अनाज लाये बिना, साग-सब्जी लाये बिना, हवा चलाये बिना काम नहीं चल सकता, सो उपदेश किया है कि भाई, व्यर्थ स्थावरकी हिंसा मत

करो। कितना सुन्दर अहिंसाणुव्रत पालनके लिए एक पथ पर चलनेका दिग्दर्शन कराया है।

सत्याणुव्रत व अचौर्याणुव्रतका उपदेश देने वाले शास्त्रका आभार— भाई, वचन बोलो, बोले बिना गृहस्थीका काम चलेगा नहीं, लेकिन जो दूसरे का बध करदें, दूसरेकी जिव्हा भरे हुए कठोर शब्द हों, दूसरेका हृदय मर्म छेद दें, ऐसे वचन मत बोलो। सत्याणुव्रतके सम्बन्धमें कितना सीधा उपदेश दिया है? इससे इसी समय शान्ति पावोगे और आत्मदर्शनकी पात्रता भी रहेगी। किसी दूसरेकी चीज बिना दी हुई ग्रहण किए बिना जीवन अच्छा गुजरेगा। चोर, डाकुवोंका जीवन भला नहीं बनता। वे धर्मके पात्र नहीं, और शान्तिके पात्र नहीं और लौकिक सुखके भी पात्र नहीं, भयभीत रहें, शल्य बनी रहे। चोरी पाप है। कुछ भी बिना दी हुई चीज ग्रहण मत करो। हाँ, गृहस्थीमें पानी और मिट्टी—ये दो चीजें ऐसी हैं कि बिना दिए हुए लाना ही पड़ता है। कहीं ये कुवें और तालाब थोड़े ही आपको जल दे जायेंगे अथवा खानसे मिट्टी लानी ही पड़ेगी। कहीं खान आपको घर बैठे थोड़े ही मिट्टी दे जायेगी। तो ये जल और मिट्टी तो बिना दिए हुए ही ग्रहण करने पड़ेंगे, पर जल और मिट्टीके बिना तो सब कुछ बिना दिए हुए ग्रहण न करें, इसमें तो खूब गृहस्थोंका निभाव है। तो हम बिना दी हुई चीज ग्रहण न करें। अपने व्यापार आदिकसे अर्जन करके आजीविका चलायें, यह उपदेश हमारी शान्तिके लिए समर्थ है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत व परिग्रहपरिमाणुव्रतका उपदेश देनेवाले शास्त्रका आभार— अपनी स्त्रीके अतिरिक्त अन्य परस्त्री, वेश्या आदिक पर अपनी दृष्टि मत डालो। गृहस्थोंको कितना सुगम मार्ग बताया गया है और इसी कारण विवाहको भी गृहस्थधर्ममें किसी अंशमें धर्मकी बात कही गई है। विवाहमें जो परदारनिवृत्तिका लक्ष्य है, वह धर्म है। और इस गृहस्थधर्ममें श्रावकका सारा जीवन बहुत भले प्रकार निभ सकता है। यों तुम ब्रह्मचर्याणुव्रत पालो। परिग्रहका परिमाण कर लो। परिग्रह तो पिशाच है। जितना परिग्रह सञ्चित करोगे, उतनी ही उलझनें बढ़ती जायेंगी। इस दुनियामें रह रहे हैं, मोही लोगोंमें रह रहे हैं, उनकी बातें तक रहे, सो कुछ अपने आपसे चिगना हो जाता है और उस ममताके जालमें फँसना बन जाता है। जो आरम्भसे परिग्रह बढ़ता है, वह परिग्रह जिसका जितना बड़ा है, वह उतना दुःखी होता है। कारण यह है कि लाखों रुपये आ रहे हैं, उनका सुख नहीं भोग पाता, क्योंकि उससे आगेकी और सम्पदाकी तृष्णा लग रही है। तो जब निरन्तर तृष्णाका भाव बना हुआ है और उससे अधिक पर तृष्णा लग गयी है तो वर्तमानमें पाये हुए लाखों

के वैभवसे भी आनन्द नहीं पा सकता, एक बात तो यह है और दूसरी बात यह है कि पायी हुई चीजमें एक हजार भी कहीं घट जायें या गिर जायें तो उसको उससे बड़ी वेदना माननी पड़ती है। कभी एक हजारका ही सारा ठाठ था और अब हो गया एक लाखका ठाठ, तो अब हजार नष्ट होने पर ९९ हजार तो अभी पडे हैं पर उसके घटनेका दुःख उसके उपयोग पर लदा हुआ है और यह होता है। जब सम्पदा बढ़ रही है तो अनेक जगह लुटना, भूल होना, गुम जाना आदि बातें होंगी ही। तो जितनी वृद्धि होती है परिग्रहकी उतनी ही आकुलता है। यदि मुक्तिकी अभिलाषा है तो अपना प्रोग्राम बदल दो और परिग्रहका परिमाण रख लो। कैसा हितकारी सुखप्रद उपदेश है, ये सब बातें जब विदित होती हैं तो शास्त्रके प्रति भक्ति उमड़ती है। कितना हितकारी शिक्षण शास्त्रसे प्राप्त हुआ ? तो यह समाधिभक्त पुरुष शास्त्राभ्यासकी भावना कर रहा है कि जब तक मेरा अपवर्ग न हो तब तक भव-भवमें मेरा शास्त्राभ्यास रहो।

शास्त्रमें उपकारक दिग्व्रतका उपदेश—रागद्वेषपर विजय करने वाले वीतराग जिनेन्द्रदेवके शासनमें जो चारित्रकी विधि बतायी गई है वह विकाररहित ज्ञानानन्दमात्र निजस्वरूपमें लीन हो सके, इस ध्येयको लेकर बतायी गयी है। इसी सिलसिलेमें जो पुरुष सर्वपापोंका परित्याग करके सकल व्रती मुनि नहीं हो सक रहा है ऐसे पुरुषको श्रावकके बारह व्रतोंका उपदेश किया है। ५ अणुव्रत तो मुख्य हैं श्रावकके और उन ५ व्रतोंकी रक्षाके लिए ७ शील बताये गए हैं—जिसमें तीन गुणव्रत हैं—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं— सामायिक, प्रोसधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसम्विभाग। दिग्व्रतमें यह विधि बतायी गई है कि आजीवन दसों दिशाओंमें आने जाने व्यापार करनेका परिमाण करले और फिर उससे बाहर आने जाने व्यापार आदिकसे सम्बन्ध न रखे। इस व्रतसे बाह्यके विकल्प हट जाते हैं और यों भी कह लीजिए कि दिग्व्रतकी सीमाके बाहरके क्षेत्रोंके लिए तो उसका सकल व्रत है, मुनिकी तरह व्रत है क्यों कि बाहरमें सबका त्याग कर दिया है। जितना कम आरम्भ हो, कम परिग्रह हो, भावोंमें ममता कम हो उस जीवके उतना ही आत्मामें लगनेकी पात्रता आती है। तो सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है ज्ञानमय आत्मामें इस ज्ञानका लीन हो जाना और उसके लिए यह एक दिग्व्रतका उपाय बताया गया है। तो यह कितना उपकारी उनका सन्देश है। ऐसे उपकारक तत्त्वका जिसमें वर्णन है उस शास्त्रके अभ्यास करनेका महत्त्व शास्त्रकथित तत्त्वके मर्म जानने वाले ही समझते हैं।

शास्त्रमें उपकारक देशव्रतका उपदेश—दिग्व्रतके अन्दर भी और संक्षेप करके कि यह मन यत्र तत्र न डोले और भी कमसे आरम्भ परिग्रह रहे उसके लिए देशव्रत बताया गया है। यह देशव्रत कुछ कालकी मर्यादा लेकर किया जाता है। जैसे—एक माह तक इस शहरसे बाहरमें अपना सम्बन्ध न रखूँगा तब फिर बाहरका व्यापार अथवा आना जाना छोड़ दें। कुछ कालकी मर्यादा लेकर इस तरहका नियम ले लेना इसका नाम है देशव्रत। तो देशव्रतमें और भी अभ्यास होता है बाह्यपदार्थोंकी दृष्टि हटानेमें। थोड़ेसे देशमें ही अपना सबंध रखा। यद्यपि साक्षात् घात तो अब भी है कि जितनी सीमामें सम्बन्ध रखा है उसमें उपयोग लग रहा है लेकिन अब ज्यादा विकल्प नहीं चल रहे, भारी उलझनोंमें अब चित्त नहीं रहा, इस कारण उसमें ऐसी पात्रता रहती है कि आत्माके स्वरूपमें लीन हो सके तो उसे सुगमता रहती है। इसमें भी अहिंसा व्रतकी सिद्धि की गई है। समाधि भाव कहो अथवा अहिंसा भाव कहो—दोनोंका एक तात्पर्य है। रागद्वेष न होकर केवल समतापरिणाम रहना, उसे कहते हैं समाधि-भाव। रागद्वेषसे इस आत्माकी हिंसा हो रही थी। तो रागद्वेषका भाव न करके आत्मस्वरूपके ध्यानके बलसे अपने आपकी हिंसा बचा लेना, अपनी सुरक्षा कर लेना यह है अहिंसा। तो इस समाधिकी सिद्धिका लक्ष्य इस देशव्रतमें है।

शास्त्रमें उपकारक अनर्थदण्डव्रतका उपदेश—तीसरा गुण व्रत है। अनर्थदण्ड व्रत। इस साधकको कैसा क्रमसे और विधिपूर्वक सन्मार्गमें लगाय है? यहाँ बता रहे हैं कि जिन कामोंमें बिना प्रयोजन ही पाप होता हो उन पापके कामोंको छोड़ देना अनर्थ दण्ड व्रत है। जैसे—व्यर्थ ही पाप भरा उपदेश देना, हिंसाकी चीजोंका वितरण करना। खोटी रागभरी कथाओंका सुनना। चलते हुए, फल फूल पत्तियोंको यों ही तोड़ते जाना। दूसरेका बुरा विचारना आदि ये सब अनर्थदण्ड हैं। अनर्थदण्डके विकल्पोंमें जो मनुष्य रहेगा उसको आत्मध्यानकी पात्रता न जगेगी, इस लिए अनर्थदण्डोंका परित्याग करना ही चाहिये। ऐसा उपदेश देकर जिन शास्त्रोंने कुमार्गसे बचाया, सन्मार्गमें लगाया और आत्मध्यानका पात्र बनाये रखा, तो इस प्रकारका जो उपकारक शास्त्र है उसका अभ्यास करना, हम आप सब लोगोंके लिए एक आवश्यक चीज है, इसी कारण समाधिभक्त पुरुष जब समाधिमें लीन नहीं है तो उस वक्तके लिए वह क्या चाह रहा है? उन ७ प्रकारकी भावनाओंमें यह प्रथम शास्त्राभ्यासकी भावना चल रही है।

शास्त्रसे उपकारक सामायिक शिक्षाव्रतका उपदेश— शिक्षाव्रतमें प्रथम

शिक्षाव्रत समायिक बताया है। समतापरिणाम करनेको सामायिक कहते हैं। ऐसी समता, ऐसी सामायिक साधुजनोंके निरन्तर रहती है, क्योंकि वे सर्व आरम्भ परिग्रहोंसे निवृत्त हैं और उनकी धुनमें एक ही बात है। इस आत्मस्वरूपको लक्ष्यमें लिए रहो और अपनेमें अपने आपको रखकर सर्वसंकटोंसे दूर हो। जो जैसी बात है, उसे वैसी जानते रहो। चाहना कुछ नहीं—न सुख, न शान्ति, न मोक्ष, न कुछ; किन्तु एक शुद्धता ऐसी प्रकट हुई है कि गलत बातको नहीं समझना चाहते गलत बातमें विश्वास नहीं करना चाहते और गलत यत्न नहीं करना चाहते। जैसा जो कुछ है, उसको वैसा ही निरखते रहना—ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषोंकी होती है। तो साधु-संतोंके तो समता अथवा सामायिक निरन्तर रहती है। श्रावकजनोंके समता, सामायिक निरन्तर रह सकनेका अवकाश नहीं है, क्योंकि उसके साथ आरम्भ और परिग्रह लगा हुआ है। तब सुबह, दोपहर, शाम दो घड़ी अथवा चार घड़ी सर्व ओरके आरम्भ परिग्रहसे हट कर केवल एक समतापरिणामके लिए उपयोग लगाना, भावना भाना, इष्ट वंदन करना, प्रभुस्तवन करना, आलोचना करना, आत्मस्वरूप निरखना, आत्मध्यान करना—इन्हें प्रयत्न करना बताया है। तो इनमें इस श्रावकका अभ्यास बनेगा और ६-६ घण्टे बाद इसको अपने आपकी सुध लेनेका अवकाश मिलेगा। तो ऐसी सुगम चिकित्सासे जहाँ श्रावकोंके भलेके लिये उपदेश किया है, ऐसे शास्त्रोंका अभ्यास करना हितकारी है।

शास्त्रमें उपकारक प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका उपदेश— सामायिक करना मुख्य काम है। समतापरिणामसे रहना, इसमें ही जीवनकी सफलता है। तो इस समताको बढ़ानेके लिए प्रोषधोपवास नामका दूसरा शिक्षाव्रत कहा है। अष्टमी, चतुर्दशी आदिकके दिन उपवास आदिक करके व्यापार परिग्रह आदिकसे हटकर मंदिरमें, धर्म-सत्संगमें रहकर धर्ममें समय व्यतीत करना, सो प्रोषधोपवास है। सामायिकमें तो दिनमें दो-तीन बार घण्टा-घण्टाभर ही समय लगता था। अब प्रोषधोपवासमें उतने नियत समयमें सामायिक तो करता ही है, लेकिन शेष समयमें समतापरिणाम बनाये रखनेका अभ्यास कर रहा है। व्रतपालनका उद्देश्य जिसे विदित नहीं है, वह व्रतपालनका उद्देश्य नहीं पा सकता। व्रतपालनका उद्देश्य है कि हमारा सारा दिन समतापरिणाममें गुजरे। तो ऐसा उद्देश्य समझने वाला इस ओर यत्न करेगा, अपने आपमें उस प्रकारसे समताभाव रखने का यत्न करेगा, जैसा कि मुनिजन किया करते हैं। इसीलिए इसका नाम शिक्षाव्रत है। जिन व्रतोंके पालनेसे मनुष्योंको शिक्षा मिले, उसे शिक्षाव्रत कहते हैं।

शास्त्रमें उपकारक भोगोपभोगपरिमाणव्रतका उपदेश—— तीसरा शिक्षाव्रत कहा है भोगोपभोगपरिमाणव्रत। जो वस्तु एक बार भोगनेमें आयी, उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन, तैल और स्नान किया हुआ जल आदि। ये एक बार काममें आनेके बाद फिर दुबारा काममें नहीं लिए जाते। तो ये हैं भोग और जो चीजें बार बार भोगनेमें आयें, वे हैं उपभोग, जैसे कपड़े, बिस्तर, पलङ्ग आदि। तो भोग और उपभोगके साधन बहुत अधिक न हों, कमसे कम हों, उनका परिमाण कर लो और शेष भोगोपभोगके साधनोंका ममत्व छोड़ दो तो उसे भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहते हैं। जिन श्रावकोंकी दृष्टि मुनियोंकी ओर रहती है और वे चिन्तन करते है कि मुनिजन तो हमारे पूज्य, हमसे बड़े होते हैं, वे निर्ग्रंथ होते हैं, मात्र पिछी, कमण्डल या एक-दो पुस्तकें उपकरणके रूपमे अपने पास रखते हैं। इनके अतिरिक्त वे अन्य समस्त चीजोंसे अपना सम्बन्ध नहीं रखते। और वे बड़े प्रसन्न और तृप्त रहा करते हैं। ऐसा ही हमको भी होना पड़ेगा, यदि संसारके सङ्कटोंसे छूटना है तो——ऐसा ध्यान रहता है। तो उसका इस बात में उत्साह रहता है कि भोगोपभोगकी चीजें जितनी कमसे कम रखूँ, उतना ही अपनेको लाभ है। बहुत रखा तो क्या ? मरण तो होगा ही। और बहुत भोगोपभोगके साधनोंका आश्रय बनाया तो उसमें विकल्प और बढ़ाया। तो भोग और उपभोगका परिमाण करना, एक ज्ञानमय आत्मस्वरूपमें लीनता हो, इसकी पात्रता बनाये रखनेके लिए बताया है।

शास्त्रमें स्वपरोपकारक अतिथिसंविभागव्रतका उपदेश—— अन्तिम शिक्षाव्रत है अतिथिसंविभागव्रत। जिस श्रावकको अतिथिमें, मुनिमें भक्ति नहीं है, वह श्रावक अपने आपके कल्याणपथमें बढ़ नहीं सकता; लेकिन साथ ही यह भी है कि जिसमें साधुपनेकी योग्यता नहीं है, केवल एक अपने भोगोपभोगका साधन बनानेके लिए एक भेषमात्र रखा है, उनका सम्पर्क रखने और भक्ति रखनेसे यह सत्पथमें तो क्या, इसकी दृष्टि भी शुद्ध न हो सकेगी। पर जो मुनि हैं, आरम्भपरिग्रहसे विरक्त हैं, विषयों की आशासे रहित हैं, ज्ञानध्यान तपश्चरणमें लीन रहा करते हैं, निर्ग्रंथ हैं, पिछी-कमण्डल और एक-दो पुस्तकोंके अतिरिक्त उनके पास और कुछ भी चीज नहीं है, जो केवल आत्माकी धुनमें ही रहा करते——ऐसे मुनियों की भक्ति चित्तमें हो तो वे श्रावक अपने आपके इस समाधिभावके लिए उत्साहित रहा करते हैं। ऐसे अतिथियोंको आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान, अभयदान आदि देते हुए उनकी सेवा करना, यह अतिथिसंविभागव्रतमें बताया गया है।

मोक्षमार्गमें रुचि होने पर ही मोक्षमार्गियोंमें रुचिका भाव—— जिसको

जिस पथमें रुचि होती है, उस पथमें जो अग्रसर हैं, उनमें उनकी रुचि होती है। यह एक प्राकृतिक बात है। तो ऐसे अतिथिजनोंका कुछ संविभाग न करे तो इसकी प्रेरणा नहीं मिलती। और जो अतिथि संविभागका नियम लेकर याने व्रतप्रतिमा धारण करके अतिथि संविभागको जीवनभर नहीं चाहता, जैसे कि किसी दानशालामें भोजन करने लगे। एक आश्रमका रूप बना दिया लोगोंको धोखा देनेके लिए कि हम लोग त्यागी हैं, हमको लोग खिला देंगे तो उन्हें पुण्यबन्ध होगा। सो आश्रमकी दानशालामें ही नौकरोंसे बनवाकर खायें तो कथ बतावो कि ऐसे व्रती लोग अतिथिको कब खिला सकते हैं? उनका भाव ही खिलानेका नहीं हो सकता है। जो मौजसे दानशालामें खानेमें लगे हुए हैं, उनको अतिथिसंविभागका परिणाम हो नहीं हो सकता। व्रती श्रावकोंके लिए आश्रम का रूप था, सो उसकी अब क्या विडम्बना हो गई?

अतिथिसंविभाग और अहिंसाणुव्रतकी श्रावकव्रतोंमें प्रधानता— अतिथिसंविभाग और अहिंसाणुव्रत--ये दो व्रत बड़े प्रधान हैं। बारह व्रतोंमें में प्रथम व्रत और बारहवां व्रत—ये दो ऐसे प्रधान हैं कि जिनके बिना धर्मकी प्रवृत्ति नहीं बन सकती है। अहिंसाव्रत न हो तो धर्म ही क्या रहा? और अतिथिसंविभागव्रत न हो तीर्थप्रवृत्ति कैसे चल सकेगी? तो अतिथिसंविभाग स्व और परके उपकारके लिए है। यों जैनशासनमें उपदेश किया गया है तो इन १२ व्रतोंके धारण करनेसे श्रावक अपना जीवन सफल करता है और मरण करके स्वर्गमें उत्पन्न होगा। वहाँसे चलकर मनुष्यजन्म पाकर साक्षात मोक्षका मार्ग प्राप्त करके निर्वाणको भी प्राप्त कर सकेगा। ऐसे सर्वसंकटोंसे छुटकारा पानेका उपाय जहां वर्णित किया गया है—ऐसे शास्त्रोंके स्वाध्यायमें प्रमाद करना और अपने ऐसे अमूल्य जीवनको यों व्यर्थ ही खो देना, यह एक बड़े खेदकी बात होगी। भगवान महावीरकी स्तुतिमें कहते हैं कि हे प्रभो! यदि आपकी दिव्यध्वनि न खिरती और उस परम्परासे शास्त्र न होते तो आज पदार्थोंका स्वरूप लोगोंको सही-सही कैसे विदित होता? और वे अपने आपके स्वरूपमें लीन होनेका उपाय कैसे बना सकते थे? इस कारण आपकी यह वाणी परम उपकारी है।

शास्त्रमें उपकारक साक्षान्मोक्षमार्गका उपदेश— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र--यह रत्नत्रयधर्म ही जीवका उद्धार कर सकने वाला है। मुनिजन साक्षात् रत्नत्रयकी मूर्ति हैं, पापोंका सर्वदेशोपाप जिन्होंने त्याग किया है। अहिंसाकी तो वे यों साक्षात्मूर्ति हैं कि चित्तमें किसी भी जीवका अनिष्ट नहीं सोचते। किसी भी जीवसे अपने लिए कुछ नहीं

चाहते। आरम्भसे तो पूर्ण विरक्त हो ही गए हैं, किसी भी समय कुछ भी आरम्भका चिन्तन वे नहीं करते। इसी प्रकार वे सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्यकी परममूर्ति हैं। ब्रह्मचर्यकी परमसिद्धि इनके नग्नत्वसे स्पष्ट प्रकट है और वे कभी स्त्री सहवासमें नहीं रहते, ग्रामसहवास भी जिन्हें पसन्द नहीं है--ऐसे ब्रह्मचर्यकी साक्षात्मूर्ति और निर्ग्रंथताकी परमपवित्र मूर्ति, जिनकी नग्नमुद्राको निरख करके सबको विश्वास होता है कि इनके द्वारा किसीको कोई कष्ट नहीं होनेका, कोई धोखा नहीं होनेका। उनके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है, उनकी नग्न मुद्रा है। उस नग्न मुद्राको ही देखकर लोग यह विश्वास करते हैं कि इनके द्वारा किसीको कोई बाधा नहीं पहुंच सकती। साथ ही यह भी देखिए कि आत्माका ध्यान करनेमें सर्वाधिक बाधक है परिग्रह। जब केवल आत्मामें ही रमनेका सङ्कल्प किया है तो अब आत्माके सिवाय अन्यसे प्रयोजन क्या रहा? आत्मा और प्रभु जिनके लिए दो ही देवता दृष्टिमें रहते हैं, ऐसे साक्षात् मार्ग पर चलनेकी बात जैनशासनमें कही गई है। वे शास्त्र हम आपके कितने उपकारी हैं, कितने मूलसे हम लोगोंके उद्धारकी बात कही है? सम्यक्त्व प्राप्त करो। अपने निर्विकार ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपका विश्वास करो, इसका ही उपयोग लगाए रहो, इसमें ही रमण किया करो। ऐसे रत्नत्रयका उपदेश जहां हमें विधिपूर्वक प्राप्त होता है, उस शास्त्रके अभ्यासकी मेरी निरन्तर भावना रहे।

समाधिभक्तकी जिनपतिनुतिकी भावना— समाधिभक्त पुरुष जब समाधिमें तल्लीन नहीं हो रहा है, लेकिन समाधिमें ही रहनेकी जिसकी उत्सुकता रहती है, वह चिन्तन कर रहा है कि जब तक मेरा मोक्ष न प्रकट हो, तब तक ये ७ भावनायें भव-भवमें चलती रहें। उनमेंसे द्वितीय भावना है जिनेन्द्रदेवका स्तवन। उपयोगमें हम किसको बसायें कि उपयोग मेरा शान्त, निर्मल, पवित्र, कृतार्थ हो जाए? हम उपयोगमें कुछ न कुछ बसाते रहते हैं, इतना ही तो किया करते हैं। बाह्यपदार्थोंमें तो कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ परिपूर्ण स्वतन्त्र है। अपने आपमें अपना परिणमन करें और रहें, इतनी ही बात पदार्थमें पायी जाती है। मैं अपने प्रदेशसे बाहर किसी भी अन्य पदार्थमें कुछ कर डालूँ, यह बात नहीं बन सकती। यद्यपि प्रसङ्ग नाना हैं। जैसे कि इसी समय देखिए कि हम शास्त्र पढ़ रहे हैं, आप सुन रहे हैं और इस व्यवहारमें ऐसा लग रहा है कि हम कुछ विशेष श्रम कर रहे हैं, आपको कुछ दे रहे हैं और आप लोग कुछ सुन रहे हैं, ग्रहण कर रहे हैं तो ऐसा देने लेने जैसा व्यवहार लोगोंको जँच रहा होगा, लेकिन स्वरूपदृष्टि करके निरखें तो यहां लेने देने

का कोई व्यवहार नहीं बनता।

ज्ञानीके ज्ञानमें सर्वत्र तत्त्वप्रकाश— बोलनेकी यह सब निमित्तनैमित्तिक भावसे वचनोंकी चेष्टा हो रही है। मैं आत्मा जो अमूर्त भावमात्र हूं, अतः कोई भाव ही बना रहा हूं और इस स्थितिमें चूंकि वे भाव कुछ रागको लिए हुए हैं तो प्रदेशोंमें खलबली मच गई। अब जिस प्रकारका हमारा ज्ञान हुआ, भाव हुआ, इच्छा हुई, उस प्रकारसे हमारे प्रदेशोंमें हलन-चलन हुआ और जिस विधिमें हलन-चलन हुआ, उसके ही अनुसार एकक्षेत्रावगाहमें रहने वाले इस शरीरकी वायु चली और उसका निमित्त पाकर ये ओठ दबे, जिह्वा, कण्ठ आदिक चले और जिस तरह ये चले और उनमेंसे जिस ढगका जो शब्द बनाना चाहिये, वैसा ही शब्द निकलता है। जैसे हारमोनियममें जिस पर्देको दबाया, वैसी आवाज निकलती है, इसी प्रकार यहां जिस प्रकारका प्रयत्न हुआ, उस प्रकारकी ही ध्वनि निकलती है। जैसे ओंठसे ओंठ मिलाकर जो उच्चारण किया तो शब्द निकला प। उस प के साथ कुछ महाप्राण और श्वासका विशेष सम्बन्ध कर दिया तो निकला फ। अब उस ही प के साथ महाप्राणके सम्बन्ध बिना और कुछ कोमल प्रेरणासे निकला ब। उसीके साथ कुछ प्रेरणा करनेसे निकलता है भ और नासिकाकी मुख्यता करके निकला म। तो जैसा दबाव दिया, जैसे साधनका सयोग किया, वियोग किया, उसके जरा-जरा से तीव्र चढ़ाव उतार आदिकके कारण यह सब शब्दरचना बन जाती है। इनको यह मैं ज्ञानमात्र अमूर्त भावमात्र आत्मा रचता हूं क्या ? यह तो केवल भावभर बनाता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाता।

परसम्पर्कमें मोहका व्यर्थ भ्रम— यह सब भ्रम है कि मैं अमुकको यों पालता हूं, यों पोषता हूं, अमुकसे स्नेह करता हूं, यह मुझसे बहुत स्नेह रखता है, इससे मुझे सुख मिलता है, मुझसे इसे सुख मिलता है; इस प्रकारकी जो परबुद्धिकृत बातें हैं, वे सब भ्रमकी बातें हैं। हम भावोंके सिवाय और कुछ नहीं किया करते। तो जब हम भावमात्रके ही करने वाले हैं तो अब यहा यह छांट कर लें कि हम अपने उपयोगमें कैसे भाव रचा करें कि हमको शान्ति प्राप्त हो और ससारके संकटोंसे हमें छुटकारा मिल जाए ? वह भाव क्या हो सकता है ? ऐसा पवित्र भाव जिनेन्द्र भगवानका स्तवन हो सकता है। परकी ओर दृष्टि रखकर पवित्रसे पवित्र भाव बनानेकी अगर कोई स्थिति है तो वह जिनेन्द्र भगवानका स्तवन है। वहा आत्माका चिन्तन हो कि ऐसा रागद्वेषरहित सर्वज्ञतासे परिपूर्ण स्वच्छ विकारोंका जहा नाम नहीं, सहज आत्माके सत्त्वके कारण जो कुछ भाव है, वही भाव जिसके प्रकट हुआ है—ऐसा ज्ञानमात्र आनन्दधाम जो

एक अतस्तत्त्व है, शुद्ध तत्त्व है, वह है प्रभु। वह आत्माकी एक परम विकसित अवस्था है, वहां ही आत्माका परमकल्याण है, अन्यत्र आत्मा का कल्याण नहीं है, ऐसा ही हो जानेकी मुझमें शक्ति है, पर उमंग नहीं करते, उत्साह नहीं करते, दृढ़ संकल्प नहीं करते, अपनेमें प्रेरणा नहीं लाते, भावना नहीं लाते, तो संसारमें पड़े हुए हैं।

सुगम स्वाधीन समाधिभावके प्रेमीकी जिनपतिनुतिकी भावना—भैया! संसारमें रहकर जन्ममरण करके, विकल्पोंमें बसकर हम अपने आपमें कुछ लाभ न पा सकेंगे। लेकिन इस मोही जीवको जो बात स्वाधीन है वह तो लग रही है कठिन और जो बात पराधीन है वह लग रही है इसे सरल। जब भावके भावमें ही सारा निर्णय है तो कैसा मोहनी धूल पड़ी है, कैसा मोहनी कर्मका उदय है कि जो बात सुगम स्वाधीन है ज्ञानरूप यह आत्मा इसका ही यह ज्ञान, यह ज्ञान यहींका यहीं ज्ञानमय आत्मामें लीन हो जाय इसमें कोई कठिनाईकी बात नहीं है। लेकिन भावोंमें जब ऐसी मलिनता है कि यह काम न किया जा सकेगा तो बाहरी बातें इसे बड़ी सुगम लग रही हैं। ये सब अड़चनें दूर करनेका सीधा सुगम कोई यत्न है तो जिनेन्द्र भगवानका स्तवन है। तो यहां समाधिभावकी उपासना करने वाला पूजक द्वितीय भावनामें चाह रहा है कि हे प्रभो! जब तक मुझे अपवर्ग प्राप्त न हो तब तक भव-भवमें यह जिनेन्द्र भगवानका स्तवन प्राप्त होता रहे।

समाधिभक्तकी समाधिमूर्तिके स्तवनमें भावना—संसार शरीर, भोगोंको असार जानकर इनमें जिनकी पूर्णतया उपेक्षा हुई है और अपने सहज सत्य ज्ञानमात्र स्वरूपको जानकर उसकी ही निरन्तर प्रतीति रहा करती है। ऐसे पुरुषको समाधिभावमें ही रुचि होती है। समाधिभावके अतिरिक्त अन्य जितने भी विकल्प हैं उन विकल्पोंको विपदा मानता है। यह समाधि भावकी रुचि रखने वाला संत जब समाधिभावमें नहीं रह पा रहा है, प्रतीति तो उसकी अवश्य है तो वह इन ७ भावनाओंमें रह रहा है। दूसरी भावना चल रही है कि जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका स्मरण और उनके प्रति नमन करना। परमार्थतः तो आत्माका आत्मा ही रक्षक है, किन्तु जब आत्माके सिवाय अन्य जगह निरखने चलते हैं कि है कोई ऐसा पुरुष जिसकी शरण गहें जिससे अपने आपको शान्ति लाभ हो, संसारके संकट मिटें? तो वह शरण मिलेगा यह जिनेन्द्र चरण, भगवत्स्वरूप। उपयोग में जब शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र प्रभु बसता है तो उस उपयोगमें आकुलता और क्षोभ नहीं रहता। उसका कारण यह है कि उपयोग जिसकी शरण ले रहा है वह आत्मा स्वरूपतः सदृश है। दूसरी बात यह है कि यह अपने स्वरूपमें स्वयं स्थिर है, पवित्र है, तो पवित्र स्वरूपकी भावना करनेसे

आत्मामें अपवित्रता नहीं आती। अपवित्रता आनेसे ही क्षोभ और आकुलता होती है। जिनेन्द्र चरणका स्तवन हम आपके लिए जीवनमें इतना उपयोगी है कि जिसके बिना हमारा ज्ञान और चारित्र भी विशुद्ध नहीं हो सकता। अविकारी ज्ञानस्वरूप प्रभुका यदि स्मरण रहेगा तो विकारोंसे निवृत्ति सुगमतया हो सकती है। जब हम मोही रागी स्नेही परिजनोंका संग रखते हैं तो वहा विकारोंका आना शुरू होता है। तो जिनेन्द्र भगवानका स्तवन हे प्रभो! मेरा भव भवमें वर्ती जब तक कि अपवर्गकी प्राप्ति न हो।

समाधिभक्तकी सत्संगभावना—तीसरी भावना है कि मेरी सर्वदा सज्जन पुरुषोंके साथ संगति रहे, कुसंगसे, मिथ्यादृष्टि मोहियोंके संगसे बहुत बल लगाने पर भी फिसलना हो सकता है और सन्मार्गसे च्युत होकर कुमार्गमें प्रवृत्ति हो सकती है। संसार है जन्ममरणका नाम। जन्म मरण साक्षात् दुःख है। जैसे किसी बांसके बीच किसी पोरमें कोई कीड़ा बैठा हो और उस बाँसके दोनों ओर (ओर छोरमें) आग लगी हो इसी तरह हम आप भी इस संसारके बीच पड़े हुए हैं और इस जीवनके दोनों ओर (ओर छोरमें) जन्म मरणकी आग लगी हुई है। जन्म भी दुःखकी चीज है और मरण भी दुःखकी चीज है। बालक उत्पन्न होता है, गर्भसे निकलता है। परिवारके लोग तो खुशियाँ मनाते हैं पर उस बच्चेकी उस समय क्या हालत होती है, उसका अनुभव कोई दूसरा नहीं कर सकता। वह महा दुःख है। "निकसत जे दुःख पाये घोर। जिनको कहत न आवे ओर॥" कितना कठिन दुःख जन्मके समयमें होता है। वैसे भी अदाज कर लीजिए कि कोई जीव एक शरीर छोड़कर आया, अब शरीर तो उसके पास स्थूल नहीं है। केवल तैजस कार्माण शरीर ही है। अब वह नये शरीर को ग्रहण करेगा और शरीरमें एक क्षेत्रावगाह होकर बनेगा। इस तरहकी बात होनेमें इस जीवपर कितना दबाव पड़ता है? जन्मके समय भी इस जीवको घोर दुःख है और मरणके समय भी इस जीवको घोर दुःख है। इसका तो सभी को पता है। लोग दूसरोंका मरण होते देखते हैं। कितने प्रकारके रोग हो गए? श्वास बुरी तरह चल रही उल्टी सीधी, बोला नहीं जाता, बैठा नहीं जाता और मरण समयमें दिखता है कि जैसे स्वर्णकार तारको खींचता है लम्बा करनेके लिए इस तरहसे आत्मा वहाँसे खिचता सा है, निकलनेके लिए जाता है तो उसे कितनी वेदना होती है? तो जीव को कितनी जन्म मरणकी वेदना लगी हुई है और छोरमें और यह बीच का जीवन है उस कीड़ेके जीवनकी भांति जो कि जलते हुए बांसके बीच के किसी पोलमें बैठा हुआ हो और बांसके ओर छोरमें आग लगी हुई

हो। हम आपको सुख शान्ति है कहाँ? ऐसे जन्ममरणसे भरे संसारमें परम्परा बढ़ानेके लिए है रागद्वेष मोह भाव। उन रागद्वेष मोह भावोंका बल मिले, प्रेरणा मिले ऐसा संग है मोहियोंका, अज्ञानियोंका, व्यसनियों का। उससंगमें रहकर इस जीवको तत्काल तो कुछ मौज सा मिलता है क्योंकि स्वच्छन्दताकी प्रकृति पड़ी हुई है, लेकिन इसका फल इतना कटुक है कि संसारमें जन्म मरणके चक्र लगाते रहना पड़ता है। तो खोटा संग इस आत्माके अहितके लिए है और सत्सग आत्माके हितके लिए है।

क्षणमात्र भी सत्सगसे उद्धारकी संभावना—एक क्षणको भी सत्संग मिले तो जिसमें पात्रता है वह उसी क्षण ही सुधर जाता है। पद्म पुराण की कथामें आया है कि उदयसुन्दरका बहनोई वज्रबाहु अपनी स्त्रीमें आसक्त था, अपनी बहिनको उदयसुन्दर लेने आया तो वह स्त्री सहित खुद चला, पर रास्तेमें वनमें एक शान्त समाधिप्रेमी मुनिकी शान्त मुद्राके दर्शन किये तो तत्काल उसे अपनी गलती नजर आयी, ओह! यह मैं मोही निरन्तर व्याकुल चित्त रहता हू और यह भी जीव हैं, यह महापुरुष है, कितना शान्त हैं, कितना तृप्त हैं। ज्ञानप्रकाश बढ़ता गया। एक क्षण का सत्सग हुआ उसका तो उद्धार हो गया। मोह छूटा और स्वयं निर्ग्रन्थ साधु होकर उसही शान्तरसका स्वाद लेने लगा। एक क्षणका भी सत्सग हो वह भी लाभके लिए होता है। जब एक मुनिराज चातुर्मासमें थे, उस नगरके एक सेठने भी कुपूतके डरसे रत्न हीरा जवाहिरात सब कुछ एक हंडेमें भरकर जगलमें एक पेड़के नीचे जहा मुनिराजका चातुर्मास हो रहा था गाड़कर रहने लगा यह सोचकर कि चातुर्मासभर आरम्भपरिग्रहके कार्योंसे दूर रह कर धर्मध्यानमें समय व्यतीत करेंगे। मुनिराज तो चातुर्मास समाप्त होने पर विहार कर गए, इधर उस कुपूत लड़के ने क्या किया था कि मौका पाकर उस हडेको निकाल ले गया। सेठको धोखा हुआ कि मैंने तो मुनिराजकी चार माह तक सेवाकी और देखो मुनिराजने हमारा हडा गायब कर दिया। तो सेठ पहुचा मुनिराजके पास और वहां ऐसी-ऐसी कथायें सुनाने लगा व्यगके साथ कि जिनसे यह साफ जाहिर होता था कि हमने तो आपकी चार माह तक सेवाकी और आपने हमारा सारा वैभव चुरा लिया। और मुनिराजने इस तरहकी कथा कही कि जिसका यह निष्कर्ष था कि अपराध करने वाला तो कोई दूसरा ही है और इसका व्यर्थ ही मुझपर भ्रम हो रहा है। उन कथाओंको वह कुपूत बालक भी सुन रहा था (क्षणमात्रमें सत्संगके प्रभावकी यह बात कही जा रही है) तो उस दृश्यको देखकर उस कुपूत लड़केका चित्त विरक्त हुआ और बोला है—"हे पिता जी! आपने व्यर्थ ही मुनिराजके प्रति भ्रम

किया। वह हण्डा तो मैं मौका पाकर निकाल ले गया था। वह हण्डा तो आपके घर पर रखा है। आप जाइये! जिस वैभवके पीछे आपने मुनिराज को कलंकी बनाया, उस वैभवको आप ही अपनाइए। मैं तो ऐसे वैभवको ठुकराकर निर्ग्रंथ मुद्रा धारण कर तपश्चरण करूँगा। यह कहकर वह कुपूत बालक सुपूत बनकर निर्ग्रंथ साधु हो गया। तो क्षणभरका सत्संग भी हम आपके हृदयको पलट देता है।

सत्संगके यत्नका अनुरोध— भैया! बात कितनीसी है? एक भाव भरकी बात है। जब खोटे भावोंका सिलसिला बना डालते हैं, तब इन जीवोंको ये खोटे भाव ही रुचते हैं। जब कभी सत्संग आदिक प्रभावसे अच्छे भावोंका सिलसिला लग सके तो फिर वे अच्छे भावोंमें अपनी प्रगति करते हैं। इसके लिए हमें चाहिये सत्संग। सो यहाँ समाधिका इच्छुक भव्य यह भावना कर रहा है कि मेरा सदा आर्योंके साथ सत्संग रहे। कहीं एक साथ पैदा हुए दो तोतेके बच्चे खेल रहे थे। उनमेंसे एक तोतेको कोई पण्डित विद्वान पकड़कर ले गया और अपने यहाँ पिंजड़ेमें पाला और उसे बोली सिखाई। दूसरे तोतेको चाण्डाल कसाई ले गया। उसने अपने यहा अपनी बोली सिखाई। कुछ समय बाद चाण्डालके यहा का तोता गन्दी बातें बोलने लगा और पण्डित विद्वानके यहाका पला हुआ तोता धर्मकी बातें बोलने लगा। यह किस बातका प्रभाव है? सत्संगका। यद्यपि पुरानी मोह, राग, द्वेषकी आदतके कारण सत्संगमें अधिक रहनेसे ऊब आ जाती है, किन्तु थोड़ीसी प्रतीति हो, थोड़ा भी नियम हो सत्संग का तो वह कभी रुचि और सत्संगमें बढ़ा सकता है। और कोई पुरुष सत्संग करे ही नहीं, धोरे ही न जाय तो उसके सुधरनेकी फिर क्या आशा है? सदा आर्य पुरुषोंके साथ हमारा सत्संग रहे। आर्य किसे कहते हैं? जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त है, जिसमें आत्माके हितकी हार्दिक अभिलाषा हुई है, जो लौकिक परिग्रहको महत्त्व नहीं देता है, न्याय-नीति का जो आदर रखता है—ऐसा पुरुष कहलाता है आर्य। जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हुई है, जो अपनी पात्रताके अनुसार सम्यक्चारित्रमें बढ़ रहे हैं—ऐसे पुरुषोंका सत्संग हे प्रभो! मुझे भव-भवमें रहे, जब तक कि अपवर्गकी प्राप्ति न हो।

समाधिभक्त पुरुष चौथी भावना भा रहा है कि सत्चारित्र पुरुषोंके गुण समूहकी मेरे कथा ही वर्तो। देखिए—प्रत्येक बोलके अन्दर दो ध्वनियाँ दिखाई देंगी। कोई भी बोल रहा हो, गुणप्रेम अथवा दोषप्रेमकी ध्वनि मिलेगी। सूक्ष्मरूपसे, स्थूलरूपसे बात बातमें ये दो धारायें झलकती हैं और फिर जब उसमें बढ़ते है तो स्पष्टकथाके रूपमें यह बात झलकने

लगती है।

गुणानुवादसे गुणस्तवन करने वालेका स्वयका लाभ— अब यह देखिए कि गुणियोंके गुण हम अपने मुखसे उच्चारण करें, उनके गुणोंकी कथा किया करें, इससे लाभ किसने उठाया ? जिस गुणीकी हम कथा करते हैं, गुणोंका वर्णन करते हैं, उस गुणीको हमने लाभ नहीं पहुचाया। सम्भव है कि उसे भी लाभ पहुच सके, यह तो उसकी पात्रता पर निर्भर है। कभी कभी ऐसा होता है कि किसीके गुणोंकी कहानी कहने लगो तो वह अपनी उस बातमें और विशेष सावधान होता है, थोड़ा यह निरखकर कि ये लोग ऐसा कहते हैं। हमारी कमी है, यह योग्य नहीं है अथवा जब गुणकी बात सुनता है तो स्वभावतः उत्साह जगता है गुणी होनेके लिए। जैसे कोई बच्चा ऊधम भी करता हो और उसे राजा बाबू कहकर समझा दो तो वह ऊधमको छोड़कर जैसा कि बड़े पुरुषोंको शान्त रहना चाहिए, उस तरहसे वह रहने लगता है। तो ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि अपने गुण श्रवण करके कोई गुणोंमें बढ़े और दोषोंसे हटे, यह तो उसकी पात्रता पर निर्भर है, लेकिन जो दूसरेके गुणोंकी कहानी करता है, उसने तो तत्काल अपना लाभ ले लिया। गुणमें प्रेम हुए बिना गुणोंकी कथा नहीं की जा सकती और कथा करके गुणमें प्रेम ही बढ़ता है। दूसरेके गुणकी बातमें प्रेम बढ़ता है, यह इसका भाव नहीं है; किन्तु गुणस्वरूपमें प्रेम बढ़ता है, गुणविकासमें प्रेम बढ़ता है, अपने गुणमें, स्वभावमें प्रीति बढ़ती है। तो गुणियोंके गुणकी कहानी करके यह बोलने वाला अपने आपमें गुणों को प्रकट कर लेता है। गुणीके गुण बखाननेसे बखानने वालेको लाभ ही लाभ है। दूसरे व्यावहारिक दृष्टिसे देखो तो किसीके भी गुण वर्णन करने में इसकी शान्तिमें भग नहीं होता। किसीका डर भी नहीं लगता। आगे पीछेकी चिन्ता और शोक भी नहीं रहता। किसीकी प्रशंसा करने चलें तो बड़े निर्भय होकर प्रशंसा करते हैं, पर किसीकी निन्दा करने चलें तो भ्रम, चिन्ता, शोक, क्षोभ, झूठ, दोषप्रेम आदि सभी बातें आ जाती हैं। तो गुणकथाका वातावरण एक शान्तिका वातावरण होता है।

गुणीके सम्यक्त्व गुणका अनुवाद— सच्चरित्र पुरुषोंके गुणों पर दृष्टि जाए तो वहाँ यही तो दृष्टि बनेगी कि धन्य है इनका सम्यक्त्व, धन्य है इनकी श्रद्धा, कैसी अडोल श्रद्धा है। जो वस्तुका स्वरूप है, उसके विपरीत इनकी भावना नहीं है। देव, शास्त्र, गुरुके प्रति कितना प्रबल श्रद्धान है कि स्वप्नमें भी रागी देवको ये नहीं मान रहे, परिग्रही गुरुको ये पात्र नहीं मानते। और जिनमें रागद्वेष भरी शिक्षा लिखी है—ऐसे शास्त्रोंको नहीं मानते। कितना इनका स्पष्ट ज्ञान है, कितना इनका स्पष्ट श्रद्धान है ?

संदेहरहित एक निर्णयके साथ जो रागद्वेषरहित विशुद्ध विकाररहित केवलज्ञानी परम आत्मा है, वही देव है, दूसरा जगतमें और कोई देव नहीं है। जैसा होनेमें परम शान्ति हो, वही तो आदर्श है तथा वही हमारा देव है। और ऐसी वीतरागता पानेके लिए अपने आपके शुद्ध स्वरूपमें समाने के लिए जिन महापुरुषोंने कमर कस ली है और इसी कारण अब उनके संग कुछ नहीं रहा, शरीर भी अगर छोड़ा जाता तो शरीरका भी परित्याग कर देते, लेकिन शरीर कहाँ छोड़ दें ? सो जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया, ऐसे गुरुराज जिनकी मुद्रा शान्त गम्भीर है, जो आत्मसाधनामें रत हैं, ऐसे गुरु पिछी-कमण्डल और एक दो पुस्तकोंके अतिरिक्त तृणमात्र भी परिग्रह साथमें नहीं रखते—ऐसे निष्परिग्रही ही हमारे गुरु हैं, ऐसी जिनकी प्रबल श्रद्धा है, ऐसे मार्गका ही जहा वर्णन है, वे ही मेरे हितकर शास्त्र है, ऐसी जिनकी श्रद्धा है, धन्य है इनका सम्यक्त्व। ऐसे उनके सम्यक्त्वकी प्रशंसा करना गुणविकासका कारण है।

ज्ञान और चारित्रका गुणानुवाद— सम्यक्त्वका सार लिए हुए जिनका ज्ञान है, उनके ज्ञानकी प्रशंसा करना भी गुणविकासका कारण है। इनका कैसा स्पष्ट ज्ञान है, कैसा निष्पक्ष ज्ञान है। एक हितकी वाञ्छामें ही इनके ज्ञानकी प्रवृत्ति है। निर्दोष ऋषिपरम्पराके अनुसार व अनुभवपूर्वक इनका ज्ञान है। धन्य है इनका ज्ञान। जो सम्यक्चारित्रमें रत हैं, अहिंसाधर्मका पालन करते हैं, मनसे, वचनसे, कायसे, कृतकारित अनुमोदनासे एवं प्रकारकी हिंसाका जिनका त्याग है, उनका अहिंसाव्रत धन्य है, इनकी वाणी दूसरोंके लिए हितकर है। सत्य वही कहलाता है, जो हितकारी हो, परिमित हो, प्रिय हो। जिनके वचन बहुत प्यारे लगें, बड़े राग भरे, स्नेह भरे वचन हों, पर परिमित न हों, साथ ही हितकारी न हों, दूसरेको सम्यक्त्वमें, सम्यग्ज्ञानमें लगाने वाले न हों तो उन वचनोंको सत्य नहीं कहा गया है। हित मित प्रिय वचन बोलनेकी जिनकी प्रकृति है, धन्य है उनका चारित्र। ये जीवोंपर अपार करुणा रखते हैं। चोरीका तो कोई विकल्प ही नहीं हो सकता है। किसी भी प्रकार किसी भी रूपमें कुशील का तो जहा प्रश्न ही नहीं है। परिग्रहसे वे इतने विरक्त हैं कि इससे अधिक और क्या कहा जाए कि जिनके पढने वाली पुस्तकको भी यदि कोई पुरुष मांगे कि महाराज ! यह पुस्तक तो बड़ी अच्छी लग रही है तो वे कह देते हैं कि हां भाई ! ले जावो। इतना तक भी विकल्प जिनको नहीं उठता कि यह पुस्तक तो हमारे पढनेमें आ रही है, इसे कैसे दे दूं ? तो इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है ? शरीरके आरामका जिन को कोई ध्यान ही नहीं, कङ्कड़-पत्थरमें सोनेकी जिनकी दृष्टि है, हा सुग-

मतासे तख्त वगैरह मिल गए तो उस पर बैठ गए, पर संगमें तख्त आसन वगैरह लेकर चलना, डोली वगैरह साथमें रखना इस प्रकारके परिग्रह जोड़नेकी ओर उनकी दृष्टि नहीं रहती। वे तो सुगमतासे तख्त वगैरह मिल गए तो बैठ गए या जमीन पर ही बैठ गए, इस तरहकी जिनकी सात्विक प्रकृति है, जो परमविरक्त हैं, ऐसा जिनका परिग्रह, त्याग, महाव्रत है, धन्य है इनका चारित्र। तो जहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे सम्बन्धित गुणोंकी कहानी हो रही हो तो ऐसे गुणोंको बोलने वाले पुरुषका गुणोंमें प्रेम है, वह तो अपना लाभ तत्काल ले ही लेता है। हे प्रभो! मेरी भव-भवमें यह वृत्ति हो कि गुणोंमें प्रीति हो और गुणियोंके गुणोंको मैं बोलता रहूं, कहता रहूं, जब तक मेरा अपवर्ग न हो। और मुझे बोलना ही पड़ रहा हो तो गुणियोंके गुणोंका बखान करता रहूं, यही चाहता हू।

दोषवादमें मौनकी भावना— समाधिभक्त पुरुष ५ वीं भावनामें भा रहा है कि दूसरेके दोष कहनेमें मेरा मौनभाव रहे। जैसे कि व्यवहारमें लोग परस्पर एक दूसरेके दोष कहा करते हैं कि इसमें अमुक दोष है, इसमें अमुक दोष है। तो किसीके दोषों पर दृष्टि देनेसे दोषोंमें रुचि होती है। तो क्यों जी! यदि कुदेवका स्वरूप कह रहे हों और वहां कोई यह कहे कि जो रागी है, द्वेषी है, वह कुदेव है तो क्या यह उसका दोषवाद है? यह दोषवाद नहीं है, यह वर्णवाद है। जैसा स्वरूप है, वैसा कहा जा रहा है। हम आपके व्यवहारमें रहने वाले लोकमें जो परस्पर एक दूसरेके दोषके कहनेकी बात है, यह है दोषवाद। कुदेवका स्वरूप शास्त्रोंमें हर जगह लिखा तो गया, तब क्या वे आचार्य भी स्वयं दोषप्रेमी थे? अरे, दोष तो यह कहा जाता है कि जहां गुण ही गुण तो हैं सब प्रकारसे और उस अवस्थामें दोष न रहना चाहिए, न रह रहा है, पर कोई इससे दोष बन गया तो उसे दोष कहते हैं। इसी प्रकार कुशास्त्रका कोई स्वरूप कहे कि जिसमें रागादिक भरी बातें हों, वे कुशास्त्र हैं तो यह दोषवाद नहीं है, यह तो स्वरूपवाद है। इसीप्रकार कुगुरु हुए परिग्रह रखने वाले, विषयोंके लपटी। लम्पटी किसी भी प्रकारसे रहते हों कोई कुगुरु और उनका कोई वर्णन करे कि जिसके साथ स्त्री भी हो, जिसके साथ परिग्रह भी लगा हो, बड़े आराम के साधन भी हों, जो अपनी महत्ता जाहिर करने जैसा ढंग बनाये हो, वह कुगुरु है। तो क्या ऐसा वर्णन कर देना दोषवाद है? यह तो स्वरूपवाद है। दोष वह है कि जो जिस अवस्थामें है, उस अवस्थामें उसे जैसा चलना चाहिए वह चल रहा है और उस तरह चलते-चलते कदाचित कोई उसमें दोष आवे तो वह दोष है।

दोषके प्रति ज्ञानी श्रावककी नीति—किसीके दोषको उस ही के सामने पहिले कह समझायें यदि वह न माने और समझो कि कोई महादोष करता ही रहता है, इसमें तो धर्मका हास्य होता है तो स्पष्ट पहिले यह घोषणा करदें कि यह मेरा साधु नहीं, यह मेरा गुरु नहीं, फिर चाहे कितना ही कुछ कहे, यह दोषवाद नहीं है और दुनियामें कोई यह भी जाहिर करता रहे कि यह मेरा गुरु है और कदाचित् दोष भी बखानता रहे, तो यह आगके विरुद्ध बात है। हे प्रभो ! मेरा परके दोष कहनेमें मौन भाव रहे, क्योंकि इस प्रकृतिमें दोषके प्रति उसकी रुचि रहेगी। ज्ञानी पुरुष तो गुणियोंमें प्रेम रखते हैं और दोष वाले से उपेक्षा रखते हैं और किसी समय मित्रजन एक अपने पथकी समस्या सुलझानेके लिए स्वरूप कहते हैं दोषका, लेकिन आम तौरसे ऐसी आदत न बने कि वे दोषको बोलते ही रहें। दोषों पर दृष्टि रहने की प्रकृतिमें ही दोषवादका व्यवहार बनता है। हे प्रभो ! मेरा परके दोषोंके कहनेमें मौन रहे, भव-भवमें हमें इस तत्त्वकी प्राप्ति हो जब तक कि मेरा अपवर्ग न हो।

सकलयोगनिवृत्त्यभिलाषी सतकी दोषवाद मौनभावनाकी युक्तता—मन, वचन, कायकी क्रियासे रहित, क्रोध मान माया लोभ कषायकी तरंगसे शून्य केवल ज्ञानमात्र स्थितिकी चाह करने वाला समाधिभक्त पुरुष सर्व योगोंकी, मन वचन कायकी प्रवृत्तिकी निवृत्ति चाहता है। उसमें यह दोषवादमें मौनकी भावनाकी बात चल रही है। मैं दूसरेके दोषोंके कहनेमें मौन रहूं। वचनकी प्रवृत्ति कमसे कम रखना हमारी शान्तिमें साधक है। अधिक बोलनेकी आदतमें अनेक बार ऐसी बात कह जाता है कि जो किसी न किसी कारणसे पछतावेका कारण बनती है, ओछी बात कह जाय, अपने फँसनेकी बात कह जाय, दूसरेको दुखानेकी बात कह जाय अथवा व्यर्थ अधिक बोलनेके कारण लोग यह समझेंगे कि यह व्यर्थ ही अटपट असार बोलता रहता है, अथवा अधिक बोलनेसे खुदमें भी रिक्तताका अनुभव होता है, अपने आपमें कुछ भरा हो, शुभ शुद्ध भावना कर सकने वाला हो, वहां उसकी बात खतम हो जाती है। इस कारण अधिक बोलने वाला आखिर दुःखी रहता है। अतः बोलना ही कमसे कम चाहिए। और जब बोलने चलें तो हित मित प्रिय वचन बोलें। उसमें गुणकी कथा किया करें, परदोषोंके कहनेमें तो मौनभाव ही रखें।

दोषवादव्यवहारमें कलहमूलता—लोकमें कहावत है कि रोगोंकी जड़ खाँसी, लड़ाईकी जड़ हाँसी। पहिले तो मौजके भावमें हँसीकी प्रवृत्ति होती है, पर यह हास्य लड़ाईका ही कारण बन जाता है। बच्चे लोग

खेल रहे हों तो उनका खेल तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कुछ लड़ाई न हो जाय और रो-रो कर अपने-अपने घर न जायें, क्योंकि उन्हें तो खेलमें रुचि है, वे खेल छोड़ें कैसे ? इसी तरह जब हँसीका प्रसंग होता है तो उस हंसीके सिलसिलेमें अनुचित व्यवहार बढ़ता है और बढ़ बढ़कर वह व्यवहार तब मिटता है जब झगड़ेका रूप हो जाता है, अन-बन हो जाती। तो यह हास्यका जो व्यवहार है वह अशान्तिका कारण है और फिर उसमें भी दोष कहनेका जो व्यवहार है वह तो प्रत्यक्ष अशान्ति का कारण है। अतः हे प्रभो ! चाहता तो हूं मैं यही कि मन, वचन, काय की क्रियासे रहित, विषय कषायके भावसे रहित केवल जाननमात्र अपनी स्थितिको अनुभवूँ। पर ऐसा जब तक अनुभव नहीं जगता तब तक मुझे ये ७ बातें मिलती रहें। उनमें से यह दोषवाद मौनकी भावना कही है।

हितमितप्रियवचनव्यवहारभावना— अब छठी भावनामें बतलाते हैं कि मेरे सबके प्रति हित, मित, प्रिय वचन बनें। मनुष्योंका यह लौकिक जीवन कैसा व्यतीत होता है और होगा, यह वचन बोलने पर आधारित है। जो मनुष्य अप्रिय अहित दु:खदायी वचन बोलता रहता है, चुगली करना, यहाँ वहाँ भिड़ाना, अप्रिय बोलना, उस पुरुषको इस लोकमें भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त होती। कारण यह है कि सभी जीव एक समान हैं। यह बोलने वाला सोचता है कि मैं बड़ा चतुर हूं और बड़ी प्रतिष्ठा वाला हू; जिस तरह मैं दूसरेको नचाऊँ, दूसरेसे बोलूँ, दूसरेसे व्यवहार करूँ सो कर सकता हू, पर दूसरे लोग भी तो इसही की तरह अथवा इससे भी बढ़कर समर्थ हैं सो उसका जबाब मिलेगा तो इसे दु:ख हो तो उठाना पड़ेगा। इसका ख्याल भी नहीं लाता यह। अथवा इस असार संसारमें मेरे करने लायक कर्तव्य है ही क्या ? किसके लिए मैं व्यर्थ अनापसनाप अप्रिय और अहित वचन बोलूँ और अपनेको विपदा में डालूँ ? सब जीवोंके प्रति हित मित और प्रिय वचन हों। किसी जीव ने मुझसे विरोध भी रख रखा हो, उसके प्रति भी बोलनेका काम आये तो वहाँ भी प्रिय और हित वचन बोलना चाहिए। बुद्धिमानी, विवेक इसी में है।

प्रियहितवचनव्यवहारमें स्वरक्षोपायत्व—यह सब अपनी रक्षाकी बात है कि सबके प्रति प्रिय हित वचन बोला जावे। कोई दूसरे पर एहसान डालनेकी बात नहीं है। मेरा आत्मा सुरक्षित रहे, शान्त रहे, इसके ही उपायमें यह बात कही जा रही है। मैं दूसरोंसे प्रिय बोलूँ तो लोग मेरा सम्मान करेंगे। मैं दूसरोंका उपकार करूँ तो लोग मेरी इज्जत रखेंगे, इस प्रकारके भावमें यह समझिये कि काम तो बड़े श्रमका किया, मगर

व्यर्थ गया। एक इतना सा अपने आपके लिए प्रयोजनका आशय रख लेने से उपकारका काम, श्रमका काम, ये सब व्यर्थ चले जायेंगे। सब कुछ यह मैं अपनी रक्षाके लिए कर रहा हू, ऐसी जिसकी दृष्टि होगी उसके बोलने में, उपकारमें भी विशेषता आयेगी और अपने आपमें भी एक तृप्ति उत्पन्न होगी। जो पुरुष ऐसा विचार करते हैं कि मैं इसके भले के लिए यह उपकार कर रहा हू तो उस कालमें भी उसे क्षोभ है और वह विपरीत चले और विपरीत लगेगा ही अनेक बार क्योंकि कषायें सबकी अपनी अपनी जुदी-जुदी साथ हैं, और सभी इस अपनी कषायके अनुसार अपनी चेष्टा करेंगे, तो उस समय यह बड़ा दुःखी होगा। मैं तो इसके लिए खूब मरा पचा, इसका खूब उपकार किया और यह मेरे साथ इस प्रकारका व्यवहार करता है, इस प्रकारका खोटा उद्देश्य बना लेनेके कारण उसे दुःख उत्पन्न होगा। ये मेरे काम आयेंगे, ये मेरी इज्जत करेंगे, ऐसा खोटा उद्देश्य लेकर कोई सेवा और उपकारका काम करे तो वहाँ आत्मा की रक्षा नहीं है।

प्रियहितवचनव्यवहारका महत्त्व--यह प्रिय हित वचनालापका व्यवहार, यह सब मैं अपने आपको सुरक्षित रखनेके लिए कर रहा हू। ये प्रिय हितवचन व्यवहार सब ढालके काम कर रहे हैं। हित, मित, प्रिय वचन बोलना ये एक ढालकी तरह हैं कि दूसरेका मुझपर वार न आ सके। दूसरे लोग मेरा क्यों बुरा करेंगे? जब मैं व्यवहार ही प्रतिकूल नहीं करता। यह अपनी रक्षाके लिए ही बात है। इस समाधिभक्तिके प्रकरणमें जो कुछ कहा जायेगा वह सब अपने आपके अविकार स्वभावको प्रकट करनेके ध्येयकी पूर्तिके लिए कहा जायेगा। सर्वजीवोंके प्रति हित मित, प्रिय वचन हों, फिर आप किसी भी देश जावो, कहीं भी रहो, वहीं क्लेश नहीं पा सकते। नीतिमें कहा है विद्वान् सर्वत्र पूज्यते। राजा तो अपने देशमें ही पूजता है, पर विद्वान् सर्व जगह पुजता है। उसका भाव क्या है कि विद्वान्की वाणी प्रिय हित हुआ करती है और बुद्धिपूर्ण भी होती है। साथ ही विद्वान् भी है ना, तो बुद्धिपूर्ण और प्रिय हित वाणी होनेके कारण वह सर्वत्र आदरका पात्र होता है और विद्वान् कहते किसे हैं? जो प्रयोजनभूत ज्ञानपर अधिकार पाये हुए है उसे विद्वान् कहते हैं। प्रयोजनभूत ज्ञान क्या है? मैं अपने आपके स्वरूपको समझ लूँ—यही मेरा प्रयोजक ज्ञान है। जिस ज्ञानके प्रतापसे इसका मोहभाव, रागभाव, द्वेषभाव ये सब दूर हो जाते हैं। तो जो निर्मोह हो गया, ससार, शरीर, भोगोंसे विरक्ति पाये हुए है उसकी वाणी प्रिय और हितरूप होगी।

प्रियहितवचनव्यवहारसे जीवनमें आत्मोत्कर्षकी पात्रता—कोई मनुष्य

यदि अपने जीवनमें यह ही व्रत ले लें कि मैं अप्रिय और अहित वचन न बोलूँगा तो उसका जीवन शान्तिपूर्ण बनेगा और लोकमें बड़ी सुख शान्तिपूर्वक रहनेका कारण बनेगा। पड़ौसियोंसे कलह होना, संगवालों से कलह होना इन सबका कारण है अप्रिय वचन बोलना। कितना एक सुगम साधन है कि जिसमें न कोई खर्च है? न श्रम है और सुख शान्ति-पूर्वक जीवन व्यतीत हो जाय। नीतिमें कहा है कि वचने का दरिद्रता, वचन बोलनेमें दरिद्रता क्यों? बोलना ही तो है, अच्छा बोलें, हितकारी बोलें। केवल प्रिय बोलनेसे भी बात नहीं बनती। प्रियके साथ हितकर भी हों। हे प्रभो! ऐसे वचन मेरे भव भवमें रहो, जब तक कि मेरी मुक्ति न हो।

समाधिभक्तकी आत्मतत्त्वभावना—अब अन्तिम भावनामें कहते हैं कि हे प्रभो! मेरे आत्मतत्त्वकी भावना रहो। पहिले जो ६ भावनायें बतायी गई हैं उन सबकी पूर्ति इस भावनामें होती है अथवा उन सब भावनाओं का यह सब फल है। सब कुछ करलें और आत्मतत्त्वकी भावना की बात न बनायें तो फिर इस अमूल्य नर-जीवनको पाकर लाभ क्या उठाया? प्रथम तो यह देखिये कि इस मनुष्यसमुदायमें घुल मिलकर लोगोंकी निगाहमें अपनी इज्जत बढ़ा लिया; उनसे बड़ा व्यवहार रखकर इस १०—२०—५० वर्षकी जिन्दगीमें कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा? दुनियामें देखो— सैंकड़ों आये, चले गए। यहाँ कोई सदा रह सकेगा क्या? और कोई किसी की अब खबर भी नहीं रख रहा। कोई किसीकी खबर भी ले ले तो उससे मेरा क्या? यह आकर्षण, यह लोगोंके प्रति अपने उपयोगकी घुड़दौड़ ये सब अनर्थ हैं, व्यर्थ हैं, असार हैं, अहित हैं, इनसे जीवको कुछ लाभ नहीं है, इतनी बात यदि दिलमें बस गयी तो इन सब बातोंमें अन्तर आ जाता है। तथा तब आत्मतत्त्वमें भावना बन जाती है।

लोकेषणाके लगावसे व्यावृत्त होकर रत्नत्रयकी उपासनामें कल्याणलाभ— यह लगावका जो विकल्प है जो कि प्रायः सभी लोगोंमे पाया जाता है कि ये लोग भी समझ जायें मुझे कि यह भी कुछ हैं, ये लोग भी मुझे अच्छा कहें, इस प्रकारका जो लोगोंसे लगाव है, यह लगाव एक ऐसी विपदा है कि जिससे फिर अनेक विपदायें इस पर आती ही रहेंगी, यह परके लगाव की बात जिसके हृदयमें घर न करे और सत्य जानें कि इतने बड़े लोकमें ये इस असीमकाल परम्परामें मायास्वरूपसे लगाव लगा कर कोई लाभ न मिलेगा। यहाँके दिखने वाले समस्त पदार्थ मायास्वरूप हैं, यहाँ किसी भी परसे लगाव रखनेमें अपना कुछ लाभ नहीं है। मेरा लाभ तो मेरे

सम्यक्त्व, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें है। इसका जिसका उद्देश्य बन गया, ज्ञानप्रकाश हो गया उसको आत्मतत्त्वकी भावना करना बिल्कुल सुगम है। जैसे मोही जीवोंको धर्मकी बात कुछ सुहाती नहीं है, उसे ढोंग और व्यर्थका समझते हैं, यों ही निर्मोह ज्ञानी पुरुषोंको इस लोकमें बाहरकी अन्तस्तत्त्वसे रंचमात्र भी बात सुहाती नहीं है। उसे ये सब व्यर्थ अनर्थ असार दिखते हैं।

असार निर्मूल विकल्पमें स्वसारकी महती क्षति— सारमात्र तो इतना ही है कि मैं अपनेको समझूँ, अपनेमें तृप्त रहूं। यह लाखोंकी सम्पदा, ये बड़े-बड़े मकान, ये बड़े-बड़े सम्बन्ध, प्रतिष्ठायें, ये चेतन अचेतन-परिग्रह ये सारेके सारे इस आत्माके लिए अकिञ्चित्कर हैं। बल्कि ये पदार्थ मेरे अपने आपको बरबादी करनेके कारण बनते हैं। आश्रय तो होते ही हैं और इनके परिग्रहके लिए होड़ मचाना, धर्मके लिये समय न रहना, ये सब कितनी सी बातके लिए किये जा रहे हैं कि लोग यह समझते रहें कि यह कितना श्रेष्ठ पुरुष है ? प्रयोजन कितना कि जिसमें कुछ जान नहीं, जिसका रूप रंग नहीं, जिसके कोई शिर पैर नहीं, केवल एक कल्पना, भ्रम, इतनी सी बातके लिए कितना अंधेरेमें पड़ जाता है यह पुरुष कि धर्मसे विमुख हो गया और संकटोंके एकदम सम्मुख आ गया।

स्वरक्षाविचारकी अत्यावश्यकता-भैया ! आत्मकल्याणके नाते कुछ तो सोचना चाहिए, अपने आपको अकिञ्चन् अनुभव करना चाहिए। मित्र कौन है ? सहाय कौन है ? यह अकिञ्चन्भाव है, न कि यह धन सम्पदा आत्माकी रक्षा कर सकता है, कौन है ? अकिञ्चन्भाव, न कि यह परिग्रहका लगाव। मैं हूं अकिञ्चन्। बाहरमें मेरा कुछ भी नहीं है, केवलज्ञानमात्र, आनन्दमात्र, भावमात्र अपने प्रदेशमें रहने वाला अमूर्त, जिस किसी भवसे आया, अकेला ही आया, सर्वसंग छूट गया, अकेला ही जाऊँगा, सर्वसंग छूट जायेंगे। अब इसमें इतना विकल्प रखना कि ये मेरे बच्चे हैं, इनके लिए मुझे सब कुछ करना है, तो ठीक है, करते जावो सब कुछ, पर इस धुनमें न धर्म हो सकेगा, न ज्ञानार्जन हो सकेगा, न सत्संगका लाभ लिया जा सकेगा, न कोई आत्महितका प्रोग्राम किया जा सकेगा। इतने बड़े लाभोंको तिलाञ्जलि दे देना एक इस भावको लेकर कि मेरे ये बच्चे बड़े खुश रहें और धनी रहें, यह कितनी बड़ी गलतीका भाव है ?

अपनेको असहाय बनानेकी प्रक्रिया व्यर्थ भ्रान्त विकल्पोंका लगाव—मरणके बाद तो इसका कुछ है ही नहीं। व्यर्थका विकल्प मचाया जा रहा है कि

मेरा कुल चलेगा। अरे मर गए, अब उस जीवका कुल क्या यहाँ रहा ? पता नहीं लोकके किस कोनेमें पैदा होगा, पता नहीं कौनसा भव धारण करेगा तो इसके लिए यह कुल क्या रहा ? लोग कहते रहेंगे कि ये अमुक के संतान हैं। अरे लोग भी न कहेंगे। उन्हें क्या गरज पड़ी है कि आप के गुण बखानते रहें। तो ऐसा कहने वाला कोई नहीं है। और कोई कहे भी तो क्या है ? वह स्वयं मायामय दुःखी प्राणी है। उसके कहने से लाभ क्या ? तो जब किसी भी जीवसे हमारा रंच मात्र सम्बन्ध नहीं है तो आजके भवमें उन बच्चोंके लिए ही मुझे सब कुछ कर जाना है, ऐसा भाव रखकर जो धन जोड़नेकी होड़में लग रहे हैं, वह अपने जीवनको खोया जा रहा है। जैसे लोग सोचते हैं कि कामसे फुरसत मिले तो मैं धर्म करूँ, ऐसे ही कभी यह भाव नहीं आता कि धर्मकार्यसे फुरसत जितने समयको मिले उतने में मैं अपना काम निपटाऊँ। क्यों यह भाव नहीं आता ? अपात्रता है। विषयकषायों की वासना है। आत्मस्वरूपके जानने की तीव्र उत्सुकता नहीं है। एक शब्दमें कह लीजिए कि हमारे आत्महित की कोई भावना ही नहीं है। सहाय होगा तो आत्मतत्त्वकी भावनाका भाव और रंच मात्र कुछ भी सहाय नहीं है।

श्रावकोंका धर्मलक्ष्य और कर्तव्यपालन--इस लौकिक लेखे जोखेमें लोगोंका बड़ा ध्यान रहता है। जैसे मैंने इतना धन कमाया, इतना अभी और कमाना है, अभी ऐसे ढंगसे काम करना है आदि। अरे यह सब क्या है ? ये सब व्यर्थकी कल्पनायें और असार बातें हैं, वे जो होती हैं सो होने दो। कर्तव्य है, गृहस्थीमें रहकर कि किसी उपायसे धनार्जन करना उस समयमें अपना कर्तव्य निभायें और उसमें अपने आप सहज जो प्राप्त हो, जो प्राप्त हो उसमें अपनी व्यवस्था बनायें। अपनी ओरसे कुछ व्यवस्था न सोचें कि मुझे अपनी इतनी व्यवस्था बनानी है, इतना कार्य करना है, वह आपके आधीन नहीं है। आपका अधिकार तो इस बात पर है कि कर्तव्य करनेमें जो लाभ होता है उसमें ही अपनी व्यवस्था बना लें। यदि कम आय होने से कम व्यवस्था बनती है वह आपका तपश्चरण है। यह गृहस्थोंका तपश्चरण है कि यदि कर्तव्यपालन करते हुए कम आय होती है तो उसके अनुसार बननेमें ही व्यवस्था बनाना और दूसरेका आराम देखकर जी न ललचाना और यह सब समझना कि ये सब व्यर्थकी बातें हैं, जिनमें लोग लग रहे हैं, जुट रहे हैं, ऐसा भाव रखकर उस आयके अन्दर ही अपनी व्यवस्था बनाकर, तृप्त रहकर ज्ञानार्जनके लिए, प्रभुभक्तिके लिए, सत्सगके लिए, आत्मभावनाके लिए, ध्यानके लिए, अपना उपयोग जो लगाये, उस मनुष्यकी जिन्दगी सफल है।

दुःख सहतेहुए भी मोहियोंकी मोहमें मौज माननेकी प्रवृत्ति—जैसे जिसको शराब पीनेकी आदत हो जाती है तो इससे वह निरन्तर दुःखी रहता है। शराबके नशेसे बेहोश होकर अटपट बोले, मरे पिटे, दुर्गति हो, कहीं का कहीं पड़ा है, कुत्ते बिल्ली आदिक भी इस पर मूत रहे हैं, ऐसी तो खोटी अवस्थायें सहता है पड़ोसी जन इस पर विश्वास न करें, कोई इसे रुपया पैसा उधार न दे, यों अनेक तरहके यह कष्ट भोगता रहता है, फिर भी यह व्यसनी मदकी धुनमें रहता है। ऐसी ही आदत मोही जीवों की है कि वे अनेक प्रकारके झंझटोंसे दुःखी होते जाते, नाना प्रकारकी परेशानियाँ सहते। और अलौकिक दुःख तो यह है कि निरन्तर क्षोभ बना रहता है, क्षोभरहित सहजपरमात्मतत्त्वकी सुध भी नहीं कर पाता है, सबसे बड़ा संकट तो यह सहता रहता है, इतने बडे संकट सहते हुए भी चाह यही रहती है मोह करनेकी, राग बढ़ाने की, स्नेह करने की और इसमें ही समझते हैं कि मुझे सुख होगा। दुःखके कारण जुटाते हैं, दुःख भोगते हैं और सुखकी आशा करते हैं। दूसरेकी बात तो झट समझमें आ जाती है। जैसे दीपक जलता है तो पतगे दूसरे पतगोंको जलता हुआ देखते हैं, फिर भी उस दीपक पर ही गिर कर मरते हैं, इसी तरह जिस काममें, जिन विषयोंके प्रसगोंमें दुःख है, क्लेश है, बरबादी है बस उसीमें ही पड़ते हैं, उसीमें ही गिरते हैं, थोड़ा भी समय ऐसा स्पष्ट नहीं बनाते हैं कि जिस समय केवल मुझे आत्मध्यान, परमात्मस्वरूपका ध्यान, प्रभुभक्ति इनका ही प्रसंग रहे। निरन्तर मोह भावना बनी रहती है। अहो मोही जीवका जीवन जन्म मरणकी परम्परा बनानेके लिए है।

आत्मतत्त्वको जानते रहनेमें भावनाके स्वरूपकी व्यक्ति—जो अपने आप में आत्मतत्त्वकी भावना रखता है उसे तत्काल भी शान्ति है, भविष्यमें भी शान्ति है। ज्ञानका काम जानना है और भावना क्या कहलाती है? बारबार जानना, जानते रहना, इसका नाम भावना है। तो जब ज्ञानका काम जानना है, यह जानना है तो जाननेकी ही तो बात कही जा रही है। जैसे आँखें खोलीं तो बेन्च दिखी, जान गए बेन्चको, इसमें कुछ कष्ट हुआ क्या? कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। मन चलाया, जिस जगह पहुचा लो जान लिया। उस जाननेमें कुछ भी तो कष्ट नहीं करना पड़ा। जाननेमें कुछ कष्ट होता ही नहीं है। पर जाननेके साथ जो राग द्वेष मोह लगा हुआ है उस भावसे कष्ट है। तो अब यहां यह विवेक करें कि मैं ऐसी बातको न जानूं कि जिसके जाननेमें मोह राग द्वेष हम पर सवार हो जायें। ऐसा वह विवेक करना। मैं ऐसा ही तत्त्व जानूँ कि जिसके जानने

में मोह रागद्वेषका अवकाश ही नहीं है। ऐसा तत्त्व मिला आपको अपने आपमें अपना आत्मस्वरूप सो उसकी भावना करनी चाहिये।

विविक्त आत्मतत्त्वसे भावना बनानेसे प्राप्त सुयोगकी सफलता—यह मै आत्मा सारी दुनियासे निराला हूं। इस देहसे भी निराला हूं। देहमें रहता हुआ जीव देहसे भिन्न है और समय आने पर देहको छोड़कर चला जाता है, लोग इस देहको जला डालते हैं अथवा कहीं फेंक देते हैं। तो ऐसा यह देह ही मेरा सर्वस्व हो गया क्या ? मैं तो इस देहसे भी निराला प्राप्त समागमोंसे भी निराला केवल एक ज्ञानमूर्ति हू। ऐसी दृष्टि बने तो श्रावककुलमें पैदा होना सो सफल, जैनशासनमें आना सो सफल है। अगर अपनी दृष्टि धन वैभव आदिक बाह्यपदार्थोंमें लग गयी तो उससे कुछ भी लाभ नहीं हैं। यह आत्मा तो खोखला ही रहा। एक जबरदस्ती की शान बनाना और भीतरमें अपने आपको सम्यक्त्वसे बहिभूत, ज्ञानसे न्यारा, चारित्रसे दूर अपने को रखना, विषयकषायोंमें लगाना, ये सब बातें हैं क्या ? अपने आपको खोखला बनाने वाली ये बातें हैं। इनसे इस जिन्दगी की सफलता नहीं है। हे प्रभो ! जो सार तत्त्व है, वीतराग, विज्ञान-भाव है वह मेरे प्रकट हो। ऐसे इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें मेरी भावना भव-भवमें वर्तो, जब तक कि मेरे अपवर्गकी प्राप्ति न हो।

जैनमार्गरुचिरन्यमार्गनिर्वेगता जिनगुणस्तुतौ मतिः ।
निष्कलङ्कविमलोक्तिभावनाः संभवतु मम जन्म जन्मि ।।३।।

भव भवमें मंगलमय भावनाका भाव—हे देव ! मेरी भव-भवमें जैनमार्गमें रुचि, अन्य मार्गसे विरक्ति जिन-गुण स्तुतिमें बुद्धि और निष्कलङ्क विमल वाणीमे भावना होओ। यहाँ कहा गया है कि जन्म-जन्ममें ये चार बातें प्राप्त हों, किन्तु पूर्व छन्दकी भांति यहां मोक्ष प्राप्त होने तक की सीमाकी बात नहीं कही कि जब तक मेरी मोक्षकी प्राप्ति न हो तब तक भव भवमे ये चीजें प्राप्त हों। न भी कहा हो तो भी भाव यही है। भक्तिकी तीव्रतामें जान समझ कर भी सीमावाली बात नहीं कही जाती। जैसे किसी मित्रसे कोई स्नेह भरी बात करे, मैं तुमको इस जीवनमें कभी नहीं भूल सकता, कहते ही हैं ऐसा, पर उसके भीतर भाव यह है कि जब तक हमारी तुम्हारी मित्रता है तब तक मैं तुम्हें जीवनमें भूल नहीं सकता, लेकिन मित्रसे क्या इस तरहसे कहा जाता है कि जब तक हम आपका मन मिल रहा है तब तक मै आपको नहीं भूल सकता ? ऐसा कोई कहता तो नहीं, पर भाव यही है। इसी प्रकार प्रभुभक्तिके समय यह कहा तो थोड़ा भक्तिमें भग समझिये कि हे प्रभो ! जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक मैं आपकी पूजा करूंगा। तो भक्तिकी जब तीव्रता होती है तो उस

समय यही कहा जायेगा कि मैं जन्म जन्ममें आपका दास रहूं। कहते भी हैं, ऐसा कोई नहीं कहता कि हे प्रभो! जब तक मैं तुम्हारे सरीखा न बन जाऊँ तब तक मैं आपका दास रहूं। भक्तिमें ऐसा कहनेकी प्रवृत्ति होती है।

समाधिभावकी धुनके समयकी पूर्वकथित सप्तभावनाविधि—यहां आप शंका कर सकेंगे कि इस छंदसे पहिले छंदमें जो पहिले निकल गया है उसमें यों कैदकी बात कहना कि जब तक मेरा अपवर्ग न हो तब तक ये ७ बातें मुझे भव-भवमें मिलें, यह कैसे युक्त होगा। समाधान—दूसरा जो छंद था वह समाधि भक्तिके उच्च वर्णनके बाद आया। पहिले छंदमें कहा गया था कि अपने आत्माके अभिमुख सम्वेदनरूप हे भगवान् श्रुतज्ञान रूपी नेत्रसे देखता हुआ मैं तुमको केवलज्ञान नेत्रसे देखता हूं। जहाँ अरिहंतके रूपमें न सुमरा, सिद्धके रूपमें न सुमरा और एक स्वात्माभिमुख सम्वेदनके रूपमें भगवानको निरखा और वहाँ इतने वेगके भावसे अपने आपमें चले कि श्रुत ज्ञान नेत्र से देखता हुआ अब मात्र ज्ञाननेत्रसे देखता हू, उस छंदके बाद सविकल्प अवस्थाके लिए प्रभुसे अभ्यर्थना कर लेना तो चाहा, लेकिन समाधिके शुद्ध स्वरूपकी निगरानीके आशयमें रह कर जब सविकल्प अवस्थाके लिए कुछ अभ्यर्थना की तो वहाँ समाधि सम्बधित विवेक रहा और तब यह सीमा की गई कि जब तक मेरा अपवर्ग न हो तब तक ७ बातें मुझे भव-भवमें प्राप्त होती रहो।

जैनमार्गरुचिका उद्देश्य—अब उसके बाद जिनेन्द्र भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवके स्वरूपमें भक्ति तीव्र उमडी, उस समय तीसरे छंदमें कह रहे हैं कि मुझे जन्म-जन्ममें ये चार बातें प्राप्त हों। जैनमार्गमें रुचि प्राप्त हो, जैन मार्ग की रुचि कहो या रागद्वेषके जीतनेके उपायकी रुचि हो, यह कहो, एक ही बात है। जैसे पूछा जाय किसी अंध व्यक्तिसे कि हे सूरदास, तुम्हें क्या चाहिए? तो वह यही कहेगा कि मुझे दो नेत्र चाहिएँ। ऐसे ही किसी भव्य आत्मासे पूछो जिसका होनहार भला है, हे आत्मन! तुम्हें क्या चाहिये? तो वह, यही कहेगा कि मुझे तो ससारके समस्त सकट छूट जायें ऐसा उपाय चाहिए और कुछ न चाहिए। तो सर्वसकटोंसे छूटनेके उपायका ही नाम जैनमार्ग है।

जैनमार्गकी निष्पक्षताकी झांकी—यहा यह गर्ज नहीं पडी है भगवान को कि हे भक्त! तुम मेरा स्तवन करो, तुम मेरी उपासना करो, तुम मेरी ही शरणमें आवो। जो रागद्वेषरहित है, सर्वज्ञ है, अनन्त आनन्दमें लीन है ऐसे प्रभुकी वाणी भी नहीं होती। वहाँ तो सशरीर परमात्माकी अवस्थामें भव्य जीवोंके भाग्यसे दिव्यध्वनि प्रकट होती है। जिस ध्वनिमें

यही उपदेश है कि हे आत्मन् ! तुम अपने आपके स्वरूपको पहिचानो और अपने आपमें लीन हो जाओ। जैसे कोई पुरुष नदीके एक घाटसे पैदल चलकर दूसरे किनारे पर पहुंच गया तो वह वहाँ खड़ा हुआ दूसरे घाट वालेको कहता है कि देखो—इस ओरसे आओ, यहींसे चलकर हम भी किनारे आ गए हैं ऐसे ही प्रभुका संकेत है कि हे भव्य जीवों ! तुम इस मार्गसे चलो तो मुक्ति प्राप्त करोगे। देखो—इसी मार्गसे चलकर मैं भी इस संसार महानदीके तट पर आ गया हूं। तो जो मार्ग मुझे संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटा देगा उससे बढ़कर उसके लिए कुछ जरूरी है क्या ? जैन मार्गमें रुचि हो, जो मार्ग सही विधि-विधान पूर्वक बताया गया है।

जीवपर वास्तविक संकट और उससे छुटकारे का यत्न—अच्छा, बोलो—तुम्हें संकटोंसे छूटना है ? हाँ, तो पहिले यह निर्णय करो कि संकट है क्या, जिससे कि छूटना है। लोग कहते कि मेरा घर गिर गया, मुझे छत सुधरवाना है, दुकानमें ग्राहक कम आते है मुझ पर बड़े-बड़े संकट लगे हैं। घरमें स्त्री ढगसे नहीं बोलती, पुत्र आज्ञा नहीं मानते। इन सब संकटों से छूटना है। अरे जीव ! ये तो तेरे पर संकट हैं ही नहीं, तू तो समझ रहा है संकट। तुझ पर संकट यह है कि इन बाह्य वस्तुओंमें तू अपना लगाव रख रहा है, संकट यह है तुझपर। छत गिर गयी तो क्या हुआ ? दुनियाके मकान गिरते हैं। पुत्र कुपूत निकल गया तो क्या हुआ ? दुनिया में भरे हुए हैं ऐसे खोटे लोग। संकट तो तुझपर यह है कि यहा पर तेरा कुछ है नहीं, स्वरूप चतुष्टय न्यारा-न्यारा है और उस परके प्रति तेरा से लगाव लग रहा है। यही मेरा सब कुछ है, यह है संकट और तुझे। इन भीतर समस्त सकटोंसे छूटना है तो यह जानना होगा, मानना होगा कि मैं केवल अमूर्त ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र हू, मेरा मेरेसे बाहर किसी भी परके प्रति रच भी सम्बन्ध नहीं है।

सकटमुक्तिके उपायमे एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वकी श्रद्धाकी प्रथम आवश्यकता—सकटोंसे छूटनेके उपायमें सर्वप्रथम यह बताया है कि हम अपने आत्माको एकत्व विभक्त समझ लें। एकत्वका अर्थ है मैं अपने आपके स्वरूपमें जिस स्वभावमय हू, मात्र मैं अकेले अपने सहज सत्त्वमात्र उस स्वरूपमें निरखना यही है अपनेको एकत्वमें देखना। और अपनेको विभक्त रूप देखना, इसका अर्थ यह है कि मेरे स्वरूपसे बाहर जो जो कुछ भी है, उससे मैं निराला हू। धन धाम, परिजन मित्रजन ये तो प्रकट जुदे हैं, उनसे तो मैं निराला हू ही। यह देह जो मेरे साथ लग रहा है इससे भी मैं जुदा हूं और इसके ही प्रदेशमें रग रगमें भरा पड़ा हुआ जो कर्मबन्ध कार्माण शरीर है

उससे भी मैं निराला हूं और तो क्या, इन कर्मोदयके निमित्तसे जो भी विकार उत्पन्न होते हैं—क्रोध, मान, माया, लोभादिक उनसे भी मैं निराला हूं। जैसे कि दर्पणमें आने वाला प्रतिबिम्ब दर्पणसे निराला है, यह प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वरूप नहीं है, औपाधिक विकार है ऐसे ही यह मैं समस्त परतत्त्वोंसे निराला हूं, इस प्रकार निरखने को कहते हैं विभक्त्व दर्शन।

आत्मोद्धारका उपाय एकत्वविभक्तदर्शन—अपने आपको एकत्व विभक्त के रूपमें निरखो, आत्माके उद्धारके उपायमें सर्वप्रथम यही उपदेश है राग द्वेष जीतने वाले प्रभुका। कोई इस उपायको तो करे नहीं और लगा रहे श्रममें, धर्मके नामपर पूजा, पाठ, स्तवन, जाप आदि करनेके बड़े-बड़े श्रम करे, लेकिन उस भक्तकी दयनीय दशा तो देखो कि वह और सब कामोंमें दिल भर कर जायेगा, मगर तत्त्वकी जहाँ बात हो वहाँसे पीठ फेरकर जल्दी ही भगेगा, वहाँ समय न मिलेगा। तो यह धर्मकी रुचिमें लगने वालेको कितनी दयनीय दशा है? आत्माका उद्धार करने वाला ज्ञानप्रकाश ही है, प्रभुस्तवन आदिमें भी ज्ञानप्रकाश पाते जाओ तो वह भी ठीक है। ज्ञानप्रकाशातिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थमें सामर्थ्य नहीं है कि आत्माको संकटोंसे छुटाकर परमतृप्तिमें ले जाय। तो समस्त संकटों से छूटनेका उपाय जहाँ ऐसा मौलिक बताया है जिसका मूल पुष्ट करके चलानेका भाव है उस जैनमार्गमें हे प्रभो! मेरी दिन प्रतिदिन रुचि बढ़ो।

मार्गका स्वरूप—मार्ग कहते हैं यत्नको। जिस यत्नके द्वारा उपेय ढूंढा जाय। रास्तेका नाम मार्ग नहीं, सड़कका नाम मार्ग नहीं किन्तु जिस यत्नके द्वारा अभीष्ट साधन ढूंढा जाय उसको मार्ग कहते हैं। लोग जहाँ जाना चाहते हैं वह है उनका अभीष्ट स्थान और उसकी प्राप्ति जिस यत्न के द्वारा होगी उसे कहते हैं मार्ग। सो सड़कका भी नाम मार्ग रख दिया गया। मार्गका शुद्ध अर्थ यह है कि जिस यत्नके द्वारा परम अभीष्ट तत्त्व की प्राप्ति हो उस यत्नको मार्ग कहते हैं। इस जैनमार्गकी, आत्मद्वारकी महिमाको इन्द्र भी हजारों जाभ बनाकर वर्णन करे तो करनेमें समर्थ नहीं है, लेकिन यह जीव अपनी शुद्ध दृष्टि रखकर केवल एक आत्महितकी वाञ्छा लेकर अपने आपमें निरखे, निरखना चाहे, यत्न करे तो उसका साक्षात् अनुभव कर सकता है।

परदृष्टिमें भ्रम अन्धकार—हे आत्मन्! तुम्हें क्या चाहिए? सर्व संकटोंसे छुटकारा, तो प्रयोग करके देखो। अपने आपमें अपने स्वरूपमात्र को तो निरखो, बाह्य पदार्थ चाहे कितने ही स्नेही हों, बड़े ही कलावान

पुरुष हो, बड़े आज्ञाकारी हों, वे समस्त परिजन भिन्न ही हैं, उनकी कला का फल उन्हें मिलेगा, उनकी चतुराईका, उनके सदाचारका फल उन्हें मिलेगा। यह जीव यदि परमें दृष्टि लगायगा, आकर्षण बनायेगा, लगाव रखेगा तो यही तो है तिलकी ओट पहाड़ जैसी बात। जैसे आँखोंके आगे तिल बराबर कागज लगा दिया जाय तो सब कुछ ढक गया, सारा अंधेरा हो गया, इसी प्रकार परमें यदि लगाव है, परकी ओर उपयोग है तो भीतरमें अंधेरा ही रहेगा। जैसे बहुत छोटी टार्चका थोड़ासा ही मुख बदल दिया जाय, पूरबकी ओरसे पश्चिमकी ओरको मुख कर दिया जाय तो पूरबकी ओर सारा अंधेरा ही हो जायेगा। वहाँ यह सिफारिश न चलेगी कि हमने तो थोड़ा सा ही इसका मुख मोड़ा है। इसी प्रकार यह उपयोग यदि जरा भी परकी ओर लग गया तो फिर अपने आपके भीतर सारा अंधेरा ही रहेगा। हाँ जिस आत्माने बराबर अपने आत्माकी ओर उपयोगको अभिमुख करके अपने आपके स्वरूपकी जानकारीका अभ्यास बना लिया है ऐसा पुरुष कभी कर्मोदयवश बाह्यकी ओर उपयोग लगाता है तो भी उसकी प्रतीति उसकी रक्षा करती है। लेकिन प्रतीति बनाने के लिए उस अनुभवकी बहुत बार आवश्यकता है।

सर्वस्थितियोंमें जैनमार्गानुवासितताकी अभ्यर्थना—अहा ! जहाँ समस्त संकट एक साथ एकदम पूर्ण रूपसे छुटकारा पानेके लिए मौलिक उपायसे जीवोंको मार्गमें लगायेंगे उस मार्गका हम कितना अभिनन्दन करें, कितना आभार प्रकट करें, उसके लिए कोई शब्द नहीं है। हे प्रभो ! मेरी जन्म जन्ममें इस जैनमार्गकी रुचि बनी रहे। भक्त कहता है कि मैं जैनमार्गसे रहित होकर चक्रवर्ती भी न होऊँ। उससे मुझे क्या लाभ ? अंधेरा ही रहेगा, क्षोभ ही बढ़ेगा, आकुलता ही रहेगी और जैनमार्गकी सेवा मिलते हुएमें यदि मुझे किसीका दास भी रहना पड़े तो वह मुझे स्वीकार है। देखिये—लौकिक पुरुष तो यह भावना करते हैं कि चाहे कैसा ही बीते पर मैं मालिक बनकर रहूंगा तो मुझे सुख प्राप्त होगा, पर यह ज्ञानी सतपुरुष ऐसी भावना भाता है कि जैनमार्गकी रुचिसे रहित होकर मैं मालिकोंका मालिक चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता हूं और जैनमार्गमें अनुशासित होकर यदि मैं छोटे से छोटे पुरुषका भी दास रहूं, तो भी मुझे स्वीकार है। क्या स्वीकार किया गया ? जैन मार्गकी रुचि।

ज्ञानप्रकाशसे ही संकटोंके क्षयका स्मरण—अपने जीवनकी वर्तमान घटनाओंमें, अतीत घटनाओंमें या कल्पना करके भविष्यकी घटाओंमें इस तरह का चिन्तन तो करें कि जब कभी परकी ओर तेजदृष्टि होनेके कारण चित्तमें क्षोभ रहता है उस समय समझाने वाले लोग कितना ही समझायें

पर उसकी समझमें कुछ नहीं आता। जैसे किसीको इष्ट-वियोग हो गया तो अनेक लोग बहुत-बहुत समझाते हैं पर उसकी समझमें कुछ नहीं आता। उसके चित्तमें वही-वही बसता है। अनेक लोग उसका दिल बहलानेके लिए जगह-जगह घुमानेके लिए इधर उधर ले जाते, सनीमा, थियेटर वगैरह भी दिखाने ले जाते, यों अनेक कोशिशें करते हैं कि इसका विषाद समाप्त हो जाय, पर वे सब लोग अपने सारे प्रयत्न व्यर्थ पाते हैं और जब कभी स्वय ही उसके भीतरमें ज्ञानप्रकाश जगता है और अपने आपके एकत्वका उसे बोध होता है, सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हू, मेरा सब कुछ यही है, इस प्रकारका जब बोध होता है तब उसके वियोगकी दृष्टि स्वयमेव ही दूर हो जाती है। लोग तो यह समझते हैं कि मैंने बहुत समझाया तब इसको ज्ञान जगा, पर ऐसी बात नहीं है। जब ज्ञान उन सकटोंके बहुत कुछ सह लेनेके बाद अपने आप ही उसके अन्दरसे प्रकट होता है तो उस एकत्वके ज्ञानके प्रकाशमें वे सारे संकट स्वयं ही दूर हो जाते हैं। किसने संकट दूर कराया ? इस जैनमार्ग ने। जैनमार्ग कहो अथवा आत्माके श्रद्धान, ज्ञान और आचरणका मार्ग कहो, एक ही बात है। हे नाथ ! रत्नत्रयरूप धर्ममें मेरे रुचि जागृत रहो।

अन्यमार्गनिर्वेगताकी भावना—हे प्रभो ! सर्वसंकटोंसे छुटकारा दिलाने वाले इस जैनमार्गमें मेरी भव-भवमें रुचि बनी रहे। जहा संकटोंसे छूटने के उपायोंमें रुचिकी बात कही जा रही है वहां यह भी आ गया कि इसके अतिरिक्त जो अन्यमार्ग हैं, ससारमें रागद्वेष मोहमें अज्ञानमें फँसाने वाले, परकी ओर झुकाने वाले अन्य मार्गोंसे मेरी विरक्ति रहे। धर्म सम्बधित अन्यमार्ग और लौकिक तो सारे ही अन्य मार्ग हैं, उन सबसे मेरी विरक्ति रहो। जिस देवको निरखकर निवृत्तिकी शिक्षा न मिले और उल्टी प्रवृत्ति, पराधीनता, कल्पनाओंकी वृद्धि, परदृष्टिका ही बढ़ावा मिले उसकी भक्तिमें हम अपना क्या लाभ पा लेंगे ? हानि ही है। जिन शास्त्रों के पढ़नेसे सर्वप्रकारसे निवृत्त होकर ज्ञानमात्र निजस्वरूपमें रमनेकी प्रेरणा न मिले और बिना इस यत्नके अथवा आत्मानुभवके खिलाफ बाह्यपदार्थों में दृष्टि रुचि करनेकी प्रेरणा मिले, ऐसे शास्त्रोंके अध्ययन से क्या लाभ लूट लिया जायेगा। जिस गुरुके दर्शनसे समस्त परतत्त्वोंसे विरक्त होकर अपने आपके उस ज्ञानमात्र एकत्वस्वरूपकी रुचि न जगे और उल्टी उलझनें बढ़ें, जिनके बाहरी प्रसंग निरखकर, परिग्रह देखकर, व्यवहार निरखकर, स्नेह देखकर जहा भक्तमें उलझनें बढ़ें, ऐसे गुरुके प्रसगसे क्या लाभ लूट लिया जायेगा ? हे प्रभो ! जैनमार्गसे अतिरिक्त अन्यमार्गसे विरक्ति हो और रागद्वेषादि विकारोंको, सकटोंको नष्ट करनेका मार्ग

मुझे प्राप्त हो।

जैनमार्गानुयायिताका प्रभाव—भर्तृहरि और शुभचन्द्राचार्य राजपुत्र ये दोनों सगे भाई थे, परस्परमें बड़ी प्रीति थी। कारण पाकर दोनों भाइयों को राजपाट धन वैभवसे उपेक्षा हुई। भर्तृहरिने तो कोई संन्यास मार्ग ग्रहण किया और शुभचन्द्रने जैनमार्ग ग्रहण किया। बहुत काल तक तपश्चरणके बाद भर्तृहरिको कोई रस सिद्ध हो गया, जिसको लोहेपर डाला जाय तो लोहा स्वर्ण बन जाय। भर्तृहरि बहुत प्रसन्न हुए। और उन्होंने सोचा कि जरा अपने भाई को तो देख लें कि वह किस स्थितिमें है। सो अपने शिष्योंको अपने भाईको देखने भेजा। शिष्य लौट कर आये और उन्होंने बताया कि आपका भाई तो बड़ी दयनीय स्थितिमें है। अकेले जगलमें रहता है, उसके साथ खाने पीनेका भी कोई साधन नहीं, साथमें कोई सेवक भी नहीं, यहाँ तक कि उसके शरीर पर वस्त्र भी नहीं है। तो भर्तृहरि अपने भाईकी हालत सुनकर उस रसको अपने शिष्यके हाथ शुभचन्द्रके पास भेजा और कहला दिया कि अब तुम मत कष्ट सहो। मुझे यह रस सिद्ध हो गया है। आप इसे लें और मनमाना स्वर्ण बनाकर सुखमय अपना जीवन व्यतीत करें। शिष्यने यों ही कह दिया शुभचन्द्रसे तो शुभचन्द्रने उस रसको लेकर जमीन पर बिखेर दिया। तो शिष्य भर्तृहरिके पास जाकर कहता है कि महाराज आपका भाई दु:खकी हालत में तो है ही, साथ ही उसका दिमाग भी ठीक नहीं है। उसने तो सारा रस जमीन पर ही बिखेर दिया। तो भर्तृहरि वहां स्वयं गए और बड़ी प्रीति पूर्वक अपने भाईको रस सौंपा और उस रसकी प्रशंसा की तो शुभचन्द्र जी कहते हैं कि भाई! राजपाटके समयमें कौनसी कमी थी? जिसे छोड़कर यहां आये हैं। भर्तृहरि ने जब उस रसकी पुन: बड़ी प्रशंसा की तो शुभचन्द्रने अपने पैरोंके नीचेसे धूल उठाकर एक शिलापर डाल दिया तो वह शिला स्वर्णमय हो गयी। यह बात केवल भर्तृहरिको सम्बोधने के लिए शुभचन्द्रजी ने किया और कोई उसका प्रयोजन न था। शुभचन्द्राचार्य तो स्वानुभूति सुधारस से तृप्त थे। तो जहां ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व शुद्धज्ञान और एकत्वविभक्त सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वमें रमण का उपाय बताया गया हो ऐसे मार्गको छोड़कर अन्यमार्गमें, अन्य उपायमें, अन्य विकल्पमें मेरा जन्म-जन्ममें वैराग्यभाव रहे।

जिनगुणरुचिमें स्वभावदृष्टिका सहयोग—वस्तुका यथार्थ स्वरूप जान लेनेके कारण जिसको अब किसी प्रकारकी शंका नहीं रही, भय नहीं रहा समस्त परद्रव्योंसे उपेक्षाभाव जग गया और निज सहज ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र ही लखनेके लिए जिसकी धुन बन गयी, ऐसा पुरुष जब

इस निर्विकल्प भावमें कर्मविपाकवश नहीं रह सका तब वह अपनी भावनायें बना रहा है। मेरी जन्म-जन्ममें जिनगुणकी स्तुतिमें बुद्धि रहे। भैया! सब कुछ बात बुद्धिसे चलती है। जिसकी जहां बुद्धि लग जाय उस पर वैसा ही प्रभाव बनता है। जीव कौन बुरा है? जैसे यहां लोग एक दूसरेसे घृणा किया करते हैं, घृणाके योग्य कौनसा जीव है? जीव, जीव सब एक समान है। स्वरूप सबका पवित्र है। चैतन्यमात्र है। यहाँ घृणा के योग्य कोई नहीं है। किन्तु बात इतनी ही अन्तरमें आयी कि किसी जीवकी बुद्धि विषय अन्याय स्वार्थकी ओर लग गयी, किसी जीवकी बुद्धि सम्वेग, वैराग्य, ज्ञान, ध्यान, आत्मा, प्रभु इनकी ओर लग गयी, तो बुद्धि के लगनेसे ही इतना बडा अन्तर आ जाता कि कोई जीव घृणाके योग्य बन गया, दयनीय बन गया, कोई पूज्य बन गया। जीवके स्वरूपको देखो तो मूलत सब समान है।

उचित आश्रयमे बुद्धिके लगनेकी अभ्यर्थना—अहो, जिनकी बुद्धि विषयों की ओर लग गयी, बुद्धि ही तो लगी, न लगती बुद्धि उन विषयोंकी ओर तो इसका कुछ बिगाड़ तो न था, बल्कि आनन्दमें ही रहता। तो कोई मूल्यवान् भी प्रसग नहीं है कि क्या करें, यह तो करना ही पडेगा। दूसरा कोई गुजारा ही नहीं। सारा काम बिगड़ता है। यदि राग न करें, मोह न करें, विषयोंमें न लगें तो यह कैसे बनेगा? वह तो काम वास्तविक पड़ा ही हुआ है। यह तो हमें करना ही पडेगा, ऐसा कुछ मूल्य तो नहीं है। ऐसी कुछ भी बात नहीं है। लेकिन व्यर्थ ही बुद्धि लग गयी और जिससे अनर्थ ही हुआ सो हे नाथ! एक बुद्धि लगने भरकी ही तो बात है। मेरी बुद्धि जिनगुणकी स्तुतिमें ही लगे तो मैं बडे से बडे सकटोंसे तुरन्त ही बच जाऊँगा। रागद्वेष मोह पर विजय पाने वाले, अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप अनुभवने वाले, ज्ञानविकासके कारण समस्त लोकालोकको प्रत्यक्ष जानने वाले जो उत्कृष्ट आत्मा हैं उन आत्माओंमें मेरी बुद्धि लगे, ऐसा समाधिभक्त पुरुष अपने हितकी भावना कर रहा है।

बुद्धिधारास्रोतके स्थलपर बुद्धिके सभालकी आवश्यकता—जैसे कोई निर्णय होनेके लिए कागजमें कुछ लिखकर गोलियां बना दी जाती हैं। ना की अथवा व्यक्तिके नामकी और बच्चोंसे उठवाई जाती हैं। उस बच्चे से जिस नामकी गोली उठ गई उसको वह चीज मिल जाती है। तो उस प्रसगमें कोई यह हिसाब तो नहीं है कि इस बच्चेको अमुक चीज मिलेगी। जिस बच्चे ने जो गोली उठा लो सो चीज मिल गई। यों ही समझिये कि इस बुद्धिके लगनेका भी कुछ हिसाब किताब नहीं है। (किसी स्थितिकी बात कह रहे हैं) जैसे जो पुरुष ज्ञानवान् है, वह सब कुछ

समझना है, लेकिन कर्मविपाक भी उदयमें आ रहा है, ऐसे पुरुषकी बुद्धि कोई कारण पाकर कभी किसी जगह लग जाय, कभी किसी जगह लग जाय तो एक अचानक लगने भरकी बात है। तो ऐसी बुद्धि लगनेकी बात मेरी हे प्रभो ! आपके गुणस्मरण में हो। कहीं विषय आदिकमें बुद्धि न लगो। यहाँ थोड़ा सम्बन्ध है बुद्धि लगने के विषयमें कि योग्यता भी अपनी जैसी है और भाग्य जैसा है उस अनुकूल बुद्धि चलती है। इतना होने पर भी जब योग्यता ठीक आगई और इस स्थिति पर कोई पुरुष है कि विषय परिग्रह प्रतिष्ठाकी ओर बुद्धि लगाये तो वहाँ भी लग सके और प्रभुभक्ति ज्ञानार्जन ध्यानकी ओर बुद्धि लगाये तो वहा भी लग सके। वह तो एक ऐसी संकीर्ण जगह पर ठहरी हुई बुद्धि है कि किस ओर लग जाय ? ऐसी स्थितिमें हे प्रभो ! मेरी बुद्धि गुणके स्तवनमें ही लगे।

प्रभुगुणस्तवनमतिमें चिन्ता भय शोक आदि सकटोंका अनवकाश—प्रभु गुणस्तवनमें बुद्धि लग रही हो तो फिर उसे कोई भय नहीं, कोई चिंता नहीं, कोई शोक नहीं, वह स्वाधीन है, किसीके परतंत्र न रहा, किसी की आशा प्रतीक्षामें उपयोग नहीं डुल रहा। कितनी आनन्दमय स्थिति है, किन्तु इसके लिए हमें उस स्थितिमें अपनी बुद्धिकी सभाल करना है जहाँ से दो धारायें कुछ भी वह सकती थीं। चाहे विषयोंकी ओर बुद्धि लग जाती या प्रभुगुण स्तवनमें बुद्धि लग जाती। सभालकी बात असली तो वहां की है कि जिस स्थितिमें किसी भी ओर बुद्धि ढल सकती है। वहां यदि प्रभुगुणस्तवनकी ओर बुद्धि ढले, फिर तो बुद्धि लगी सो लगी ही रहेगी। पात्रता ही उसमें उत्तम है। बुद्धि तो लगनी चाह रही है, कहीं लगो, लगे बिना नहीं रह सकती बुद्धि। कोई भी पदार्थ हो, परिणमे बिना तो नहीं रह सकता। वह तो परिणमेगा ही। तो बुद्धि भी है, ज्ञान भी है, वह परिणमे बिना तो न रहेगा। उसका तो परिणमन होगा ही और परिणमन क्या है ? किसी में उपयोग लगना। बस बुद्धिको तो लगने भर से मतलब है। अब यहा इतना विवेक करना है कि हम ऐसी जगह बुद्धि लगा दे कि जहां सब आनन्द ही आनन्द है। शुद्ध ज्ञानमय अपने स्वरूपके समान परमात्मामें जिसमें स्वरूप व्यक्त हुआ है (वह मुझमें व्यक्त नहीं है, इतना ही तो अन्तर है) उस परमात्मप्रभु के गुणस्तवनमें बुद्धि लगी हो तो बुद्धि खाली नहीं लग रही है, समयभी अच्छा कट रहा है और गुण-विकासका भी उत्साह जग रहा है, शुद्ध आनन्द भी प्रकट हो रहा है। किसी अन्यकी पराधीनता नहीं रही है। कोई चिन्ता शोक भी नहीं रहता है। मैं केवल इतना ही ज्ञानानन्दमात्र हूं, मुझे चिन्ता क्या ? जिसका जो कुछ होता हो वह उसके उपादानसे है। फिकर क्या ? वस्तुस्वरूपको यथार्थ

जान लेने पर निःशंक होकर प्रभुगुणस्मरणमें उपयोग लगता है। तो हे प्रभो ! मेरा प्रभुगुणस्मरणमें उपयोग बना रहो, जन्म जन्ममें। भाव इस का यही है कि जब तक मुझे निर्विकल्प स्थिति न प्राप्त हो तब तक मेरा प्रभुगुणस्मरण (स्तवन) बराबर रहो।

निष्कलङ्कविमलोक्तिभावना—चौथी भावनामें समाधिभक्त यह कह रहा है कि निष्कलंक, निर्मल वाणीमें मेरी भावना रहो। निष्कलंक विमल वाणीमें प्रतीति कब हो सकती है ? जब पहिले अपने आपके एकत्व विभक्त स्वरूपका निर्णय बन जाय। जब तक पर्याय बुद्धि रहती है तब तक तो कुछ न कुछ पक्षपात रहेगा। जाति, कुल, मजहब गोष्ठी आदिका अथवा जिस प्रकारका हम धर्माचरण बचपनसे करते आये, उसके ये सारे पक्षपात रह सकते हैं, किन्तु जब अपने आपमें ऐसा ज्ञानप्रकाश होता है कि यह मैं आकाशवत अमूर्त रूप, रस, गंध, स्पर्श, रहित केवल ज्ञानज्योतिमात्र सद्‌भूत आत्मतत्त्व हूं, जिसका किसी अन्यसे रंच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, जो इस लोकमें अकेला ही था, अकेला ही है और अकेला ही रहेगा। जिसके परिणमनसे जिसपर जिसकी बात बीतती है, जिसमें किसी दूसरेका कुछ भी हाथ नहीं लग सकता। इस ज्ञानमात्र अपने आपको क्या करना चाहिये ? कि जिससे शान्ति मिले, संकटोंसे छुटकारा मिले, ऐसी बुद्धि जगे अपने आपमें तो सारे पक्षपात मिट जाते हैं और तब निर्दोष वाणीके प्रति प्रीति जगती है।

निर्दोष वाणीकी रुचिका आभार प्रदर्शन—धन्य है वह पुरुष जिसकी निर्दोष वाणीमें प्रीति बने। कोई कुल यदि निर्दोष वाणीकी परम्परा वाला भी हो और वहा भी पर्यायबुद्धिसे पक्षपात करके उस धर्ममें, उस वाणीमें यदि प्रीति करता है तो अभी उसकी निष्पक्ष भावना नहीं बनी। निर्दोष वाणी वाले धर्ममें, मजहबमें भी जब तक जातिकुल आदिकका पक्षपात छोड़कर अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र आत्माके नाते से ही अपने कल्याणकी बुद्धि नहीं जगती तब तक उसकी भी निर्दोष वाणीमें प्रीति नहीं कही जा सकती। निर्दोष वाणी है कौन ? जो किसीके स्नेहकी बुद्धि न रखकर केवल पदार्थमें जो बात पायी जाती हो उस पदार्थगत स्वरूपके जाननेकी ही जिसकी भावना और चेष्टा हो, यत्न हो, निष्कलंक वाणी वहां हो सकती है। जो सत्य हो वही मेरा देव है, जो सत्य हो वही मेरा गुरु है और जो सत्यस्वरूप हो वही मेरा शास्त्र है। इस ढंगसे जिसे देव, शास्त्र, गुरुका लगाव हो उसका पथ तो ठीक रहेगा। और जो मेरे देव, शास्त्र, गुरु कहलाते, वे सत्य हैं, इस प्रकारकी अपनी हठ बनानेके आशयमें पथ सही नहीं मिल सकता। जो पर्यायबुद्धिसे हटे, केवलज्ञान ज्योतिमात्र मैं हूं,

अकेला हूं, इस मुझ ज्ञानमात्र अँतस्तत्त्वका उद्धार हो, शान्ति रहे, यथार्थ रहे, सत्य रहे, गलत न रहे, इस प्रकारकी जब भीतर ज्योति जगती है तो वह भी स्वय निष्कलंक बनने लगता है और उसे फिर निष्कलंक वाणी में भावना जगेगी। वस्तुस्वरूपके मार्गको निरखकर जो देव, गुरु जचें उनमें भक्ति बने, यह बात बादकी है, किन्तु मूलमें तत्त्व यही है कि वस्तु का यथार्थस्वरूप जानना और उस यथार्थ जाननेमें ही अपनी रति रहना।

वस्तुस्वरूपनिर्णयसे उत्पन्न ज्ञानप्रकाशसे सकलसकटोंका अवश्यभावी विनाश --जगतमें जो भी पदार्थ है उसमें नवीनपर्याय बनती है, पुरानी पर्याय विलीन होती है और वह वही शाश्वत रहा करता है, यह बात वस्तुके स्वरूपमें सत्त्वके नातेसे सबमें पड़ी हुई है। इस बातका सबसे पहिले निर्णय ठीक कर लें। मजहब कुल परम्परा, कुल देवता, इन बातोंके निर्णय में या बुद्धिमें अभी न फँसकर सीधे सही पदार्थके स्वरूपपर अपनी दृष्टि लगायें। है ना यह तथ्यकी बात कि ऐसा हुए बिना कोई "है" नहीं रह सकता। जिसमें कुछ भी व्यक्तरूप न हो, मूर्त या अमूर्तके ढगसे किसी भी प्रकारसे किसी पदार्थका कोई व्यक्तरूप न हो तो क्या वह पदार्थ सत कहला सकता है ? है नहीं कुछ ऐसा कि जिसका कुछ भी व्यक्त रूप न हो और वह "है" रहा करे। जब कोई व्यक्त रूप बना तो उत्पाद और व्यय ये दोनों उसमें आ ही गए। और ऐसे उत्पाद व्यय जिसमें होते रहते हैं वह मूलभूत तत्त्व शाश्वत रहता है। चाहे जीवका नाम लो, पुद्गल लो, आकाश लो, काल लो। कोईसा भी पदार्थ लो, प्रत्येक पदार्थमें परिणमन होता है और सदा अस्तित्व रहता है, ये दो बातें प्रत्येक पदार्थ में पायी जायेंगी और जब प्रत्येक पदार्थ यों उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हो गया तो इसका अर्थ यह है कि सभी अपने आपमें अपने ही गुणोंमें परिणमते रहते हैं और अस्तित्व वे अपना बनाये रहते हैं। जब सब पदार्थ इसी प्रकारके हैं तब कहां गुञ्जाइस रही कि किसी पदार्थका कुछ पदार्थ बन जाय, किसीका कोई स्वामी बन जाय ? प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, ऐसे निर्णय प्रकाशके पश्चात जीवमें मोह नहीं रहता। तो इस ज्ञानप्रकाश के होने पर सारे सकट समाप्त हो गए।

क्लेशनिवारणके अर्थ दुनियावी यत्न विधानसे क्लेशोंकी वृद्धि—लोग अपने दुःख मेटनेके लिए बड़ा परिश्रम करते हैं, पर वह परिश्रम करते हैं उल्टा, जैसे-जैसे उस परिश्रममें बढ़ते जाते हैं वैसे ही वैसे दुःख भी बढ़ता जाता है। जैसे कोई गोरखधधा होता है, तो उसको ज्यों ज्यों सुलझानेकी कोशिश की जाती है त्यों त्यों वह उलझता रहता है। उसी को तो कहते हैं गोरखधधा। तो ऐसे ही यहाँ पर मनुष्य अपना दुःख दूर करने के लिए

जैसे-जैसे प्रयत्न कर रहे हैं वैसे ही वैसे उलझनें और बढ़ती जाती है और यों इस मनुष्यको आपत्तियां बढ़ती जाती हैं, कम नहीं हो पातीं। कारण यह है कि जब बालक थे तब उतनी उलझनें न थीं, भूखके समयमें रो लिया, खा लिया, खेल लिया, न चिन्ता, न शोक, न कोई फिकर, न कोई ज्यादह जानकारी। कुछ और बड़े हुए, संभाल करने लगे तो संभाल क्या हुई? जैसे-जैसे धनकी आय हुई, संतान बढ़े, लोगोंके सम्बन्ध बढ़े और जब बड़े हो रहे हैं तो ये सब चीजें प्राय बढ़ती ही हैं। बच्चे भी बढ़ते, लोगोंका संबन्ध भी बढ़ता, कुछ इज्जत भी बढ़ती, तो इन सबके बढ़ने से उसकी उलझनें और भी बढ़ती रहती हैं। यहाँ तक कि ये उलझनें वृद्धावस्था में भी सताती रहती हैं। तो हुआ क्या? जैसे-जैसे शान्तिके लिए हमने यत्न किया वैसे ही वैसे उलझन हमारी बढ़ती गई।

सकल परिहारसे उलझनोंका परिहार—अहो, उलझनें तो सब बढ़ीं, किन्तु इन संकटोंसे छूटनेका कुछ उपाय नहीं है क्या? है उपाय। वह उपाय है वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञानप्रकाश। लोग तो यों हठ करते हैं कि हमने इस दुकानमें बीसों वर्ष लग लगकर दुकानको इतनी बड़ी बना दिया और इतनी बड़ी आय कर लिया, अब मैं इसको छोड़ कैसे दूं? अमुक संस्थाकी बीसों वर्ष तक सेवा करके इतनी वृद्धि कर दी, अब मैं इसको छोड़ कैसे दूं? मैंने अपने परिजनोंकी बड़ा श्रम करके ऐसी व्यवस्था बनायी, बीसों वर्ष तक बड़े ढंगसे काम किया, परिवारकी बड़ी अच्छी स्थिति बना दी, अब इस परिवारको मैं कैसे छोड़ दूं? अरे ज़रा उन चक्रवर्तियोंके दिलको तो देखो कि ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिनकी सेवा में खड़े रहते हैं छः खण्डपर जिनका पूर्ण अधिकार है, इतना बड़ा वैभव जिन्हें प्राप्त है, जो बड़े रंग ढंगमें मौजमें लग रहे हैं, अचानक ही आध-मिनटमें उन्हें क्या हो गया? कमलके फूलमें भँवरा मरते देखा तो देर न लगी, एकदम ही उनका ढांचा बदल गया। विरक्ति आयी। उन्होंने तो यह न सोचा कि युद्ध करनेमें, दिग्विजय करनेमें हजारों वर्ष लगे, इतना बड़ा साम्राज्य प्राप्त किया और एक ही मिनटमें साराका सारा साम्राज्य एकदम कैसे छोड़ दिया जाय? अरे उनके ज्ञानमें यह आया कि है कहा कुछ मेरा? मैं तो ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र आत्मतत्त्व हूं? मैं तो अब तक विपरीत काम कर रहा था, उलझनमें लगा हुआ था, व्यर्थका दुःख सह रहा था। मैं तो यह एकाकी परिपूर्ण निजस्वभाव मात्र हूं। कहां हूं कष्ट में? कहां है भव भ्रमण इसका? यों अपने आपके विशुद्ध ज्ञानप्रकाशकी दृष्टि होती है कि समस्त संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

अपनेमे ज्ञानप्रकाशके लाभका स्रोत—संकट निवारक ज्ञानप्रकाश हम

कहांसे पायें ? इस निष्कलंक विमल वाणीकी भावनासे पायेंगे। समाधि-भावमें क्या किया जाता है ? ज्ञानमात्र ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें निरन्तर बनाये रहना है, बस यह स्थिति है समाधिकी। अब बतलाओ कि यह स्थिति जो कि आनन्दवाली स्थिति है, यह किसी दूसरेकी दयापर मिल सकेगी क्या ? किसी दूसरेकी आशासे मिल सकेगी क्या ? दया और आशा दूसरेकी तो जाने दो। जो स्वयं प्रभु है, जो स्वयं ईश्वर है, सामर्थ्य रखता है, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्दका निरन्तर अनुभव करता है, जिन प्रभुके गुण स्मरणके प्रसादसे हमारे सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं, समाधिभाव की भी सिद्धि बनती है उन प्रभु तक की भी तो दया यह मेरे समाधिभाव पर निर्भर है तो संसारके मोही अज्ञानी प्राणियोंकी आशा दयाकी तो बात ही क्या ? प्रभुका स्वयं उपदेश है कि तुम अपने आपको जानो और अपने आपमें मग्न हो। ऐसी बात यदि न बन सकती हो तो मेरे स्वरूपको देखो और देखकर निर्णय करके अपने आपमें समा जावो। उनका यह उपदेश नहीं है कि तुम सदा मेरी शरणमें रहा करो, मेरा ही पूजन किया करो। प्रभुका उपदेश है कि अपनेमें अपना ज्ञानप्रकाश पाकर कृतार्थ होओ।

समाधिभाव लाभके अर्थ अपने कर्तव्यपर विचार—भैया ! सकल संकट-हारी परम समाधिभावकी प्राप्तिके लिए हमें कुछ करना है कि नहीं करना है ? कुछ तो अपने आपपर दया करके अपने आपसे बात तो करलो। परिग्रहमें, परिजनकी चहोंतरीमें, वैभवकी वृद्धिमें अपना उपयोग लगाकर कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा ? इनसे तो वर्तमानमें भी दुःख होता है और भविष्यमें भी दुःखी होना पड़ेगा। तो थोड़ा कुछ धीरतापूर्वक अपने आपपर दया करके स्वहित पर विचार तो करना चाहिये। ये सब बातें प्राप्त होंगी स्वाध्यायसे, ज्ञानार्जनसे, निर्दोष वाणीकी भावनासे। लेकिन इसकी ओर तो दृष्टि न हो और एकदम खिंचे चले जायें परकी ओर, परिग्रहकी ओर। बड़ी शौक शानसे लोग कहते हैं कि आजका जमाना तो पैसे का है। जितना पैसा जिसके पास बढ़ेगा उसको उतना ही सुख, शान्ति मिलेगी, इज्जत मिलेगी।"""" अरे हमें न चाहिए यह सुख शान्ति यह इज्जत। मोही अज्ञानी प्राणियोंने यदि कुछ इज्जत कर दिया और उसमें कुछ कल्पित मौज मान लिया तो क्या यह कोई भली बात है ? मुझे तो ये कुछ न चाहिये। मैं तो भिक्षा मांगकर भी उदर भर सकूं तो वह भी बुरी बात नहीं, लेकिन जैनमार्गसे बहिर्गत रहकर अर्थात् आत्मज्ञानसे पृथक् रहकर मैं परके बारेमें कुछ भी विकल्प करता रहूं यह मेरी बुरी बात है। धर्म मार्गमें प्रगति करनेके लिए हिम्मत बड़ा साहस बनाना पड़ेगा।

क्या जीव गर्भमें मर नहीं जाते ? उत्पन्न होते ही, निकलते ही मरते नहीं हैं क्या, छोटी उमरमें जीव गुजरते नहीं हैं क्या ? उनही जीवों सरीखा ही तो मैं हूं। गर्भमें गुजर जाते, गर्भसे निकलते गुजर जाते या बचपनमें गुजर जाते, तो मेरे लिये यहाँका कुछ भी क्या था ? सुयोगसे यदि बच गए तो मेरा जीवन बस दुनियावी संगसे छूट कर अपने आपकी दयाके लिए ही है, ऐसा जिसका साहस होता है, भली भांति धर्मका पालन वही कर सकता है।

चारों मार्गभावनाओंका समाधिभावके पोषणमें सहयोग--जिस जिस भावनासे समाधिभावके जागृत होनेसे प्रेरणा मिलती है उन-उन कार्योंकी भावना करना सो भी समाधिभक्ति है। इस छंदमें जो चार प्रकारकी भावनायें बतायी गई हैं वे समाधिभावके पोषणका कार्य करती हैं। जैनमार्गमें रुचि होना अर्थात् राग, द्वेष, मोहको नष्ट करने के उपायमें रुचि होना यह समाधिभावका ही पोषक है। समता कहते हैं राग द्वेष से रहित विशुद्ध चैतन्यपरिणमनको। इसकी सिद्धि सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रके मार्गसे ही होती है। जो मार्ग रागद्वेषको प्रकट करते हैं, समस्त परतत्त्वोंसे भिन्न ज्ञायक स्वभाव मात्र निज तत्त्वकी दृष्टिसे दूर रखते हैं, उन सब मार्गोंसे विरक्त रहना, उनसे अलग रहना, इस प्रकारकी भावना भानेसे कुमार्गमें गति नहीं बन सकती है और फिर समाधिभावकी शीघ्र प्राप्ति की जा सकती है। जिनेन्द्रदेव अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा मात्र शुद्ध ज्ञानानन्दकी मूर्ति है, जिसमें विकारभाव नहीं है, ऐसे अविकार प्रभुस्वरूपकी भावनासे समाधिको प्रेरणा मिलती है इसी प्रकार उन वचनोंमें रति होना, उन वचनों पर चलना, जो वचन निर्दोष हैं, निर्मल हैं, आत्माके विशुद्ध कल्याणकी बात कहने वाले हैं उन युक्तियों में, वचनोंमें भावना होना यह भी समाधिभावके निकट ले जाने वाली भावना है। इस प्रकार यह समाधिभक्त सत इन चार भावनाओंकी अभ्यर्थना कर रहा है कि यह मुझे जन्म-जन्ममें प्राप्त हो।

गुरूमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धान्तवार्धिसिद्घोषे।
मम भवतु जन्मजन्मनि सन्यसनसमन्वित मरणम् ॥४॥

समाधिभक्तकी ससन्यासमरणकी भावना--मेरा, जन्म-जन्ममें सन्यास सहित मरण होवो। जो बात उत्तम है, आत्माको हितकारी है, उसकी भव भवमें अभ्यर्थना करना चाहिए, ऐसी प्रकृत्या वाणी निकलती ही है। देखिये कहा तो मरणकी भावना और उसका फल है मरणविनाशक जो मरण जन्मसे छुटकारा दिलाने वाला है और उस मरणकी प्रार्थना करता कि भविष्यमें मेरा सन्यासहित मरण हो। अर्थ उसका यह है कि जहां

संन्यासपूर्वक मरण होगा तो उसके भव विशेष रह ही नहीं सकते। लेकिन जो शरणभूत तत्त्व है उसकी इतनी विशिष्ट अभ्यर्थना करना यह उसकी रुचिका द्योतक है, जीवका उपकारी मरण है। मरणके बाद पुराने भवकी सब आपत्तियां टूट जाती हैं तथा सदाके लिए जन्म न हो ऐसे निर्वाण की प्राप्ति मरणके बाद ही होती है। सो ऐसे अलौकिक मरणका नाम है निर्वाण। जिस मरणके बाद फिर इस जीवका देहमें जन्म न हो उस मरणको निर्वाण कहा गया है। अथवा इसे पंडितपंडितमरण भी कहते हैं। पंडितपंडितमरणका साधक सन्यासमरण मुझे प्राप्त हो, ऐसा मर्म इस भावनामें है।

पांच प्रकारके मरणोंमेंसे बालबालमरण, बालमरण, बालपंडितमरण का निर्देशन— मरण ५ प्रकारके होते हैं—बालबालमरण, बालमरण, बालपंडित मरण, पंडितमरण, पंडितपंडितमरण। बालबाल मरणका अर्थ है अत्यन्त अज्ञान अवस्थामें मरण होना। जहाँ सम्यक्त्व नहीं है, मिथ्यात्वसे ही वासित चित्त है, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवको बालबाल कहते हैं। बिल्कुल बच्चा याने अज्ञानी। उसके मरणका नाम है बालबाल मरण। बालमरण कहते हैं अविरत सम्यग्दृष्टिके मरणको। अविरत है, व्रती नहीं है इस कारण वह बच्चा है लेकिन सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व नहीं रहा इसलिए बिल्कुल बच्चा न रहा, इसलिए उसे बालबाल न कह कर बाल शब्दसे कहा है। बालमरण अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि जीवका मरण। तीसरे मरणका नाम है बालपंडितमरण। जो गृहस्थ है, उत्तम श्रावक है, पंचम गुणस्थानवर्ती है, जिसका प्रतिमा प्रतिमारूप नियम है, जो अपने जीवनमें बड़ी शान्तिसे रह रहा है, मरणकालमें सन्यास की भावना हुई है ऐसे धार्मिक गृहस्थके मरणका नाम है बालपंडित मरण। चूँकि कुछ व्रत आ गए हैं, संयमासंयम पालन किया है इस कारण तो है यह पंडित किन्तु पूर्णसंयम प्राप्त नहीं हुआ है इस कारण है यह बाल। इसके मरणको कहते हैं बालपंडितमरण अर्थात् प्रतिमाधारी गृहस्थ श्रावकोंका संन्याससहित मरण।

पंडितमरणका निर्देशन—चौथे मरणका नाम है पंडितमरण। जो सकलव्रती हैं, ऋषिसंत हैं, निष्परिग्रह हैं, केवल आत्माकी उपासनामें ही जिसकी धुनि है ऐसे मुनियोंका जो संन्यासपूर्वक मरण होता है उसको पंडितमरण कहते हैं। वे पंडित हो गए। पंडितका अर्थ है—'पंडा इत इति पंडित:, जो विवेकबुद्धिको प्राप्त हो गया है, यह करने योग्य है यह नहीं इसका विवेक जिसे स्पष्ट प्रकट हुआ है ऐसे पुरुषको पंडित कहते हैं। पंडित शब्दका बहुत ऊँचा अर्थ है, किन्तु आजकल तो जो व्यक्ति रसोई

बना दे, पानी भर दे उसे भी पंडित कहते हैं। लोग तो अपने नौकरोंका नाम रखते हैं पंडित। पर पंडित शब्दका कितना ऊँचा अर्थ है कि विवेक बुद्धि वाला पुरुष। विद्वान तो जब ऐसा विवेक बुद्धि वाला पुरुष ब्रह्मतत्त्व का ज्ञानी पंडित कहलाया, और उसका लड़का निकला मूर्ख तो लोग उसे भी पंडित कहने लगे। जैसे यहाँ मास्टरके लड़के को भी लोग मास्टर कह दिया करते हैं, ऐसे ही पंडितके लड़के को भी लोग पंडित कह देते हैं, तो नाम तो केवल पंडित रह गया मगर उसमें कुछ गुण नहीं, कोई विवेक की बात नहीं। वे पंडित केवल रसोई बनानेकी नौकरी करने लायक ही रह गए। तो रूढ़िमें इस पंडित शब्दकी मिट्टी पलीत कर दी गई। पंडितका नाम है पूज्य ऋषीसंतोंका सन्यासपूर्वक मरण।

पंडितपंडितमरणका निर्देशन—पंडितपंडितमरण कहते हैं निर्वाणको। चार घातिया कर्मोंका जिनके विनाश हुआ है अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द जिनके प्रकट हुआ है, सशरीर परमात्मा हैं, सगुणब्रह्म, सकल परमात्मा, उनके शेष चार अघातियाकर्म जब नष्ट होते हैं, आयु भी नष्ट होती है तो शरीर छूट जाता है और वह निकल-परमात्मा अशरीर परमात्मा हो जाता है तो इसे कहते हैं निर्वाण। पर निर्वाणमें भी आयुका क्षय तो होता ही है। चार अघातिया कर्मोंका क्षय होता है। तो आयुके क्षयका नाम मरण है। तो निर्वाण कहो अथवा मरण कहो, कोई भिन्न बात तो न रही, लेकिन उस मरणके बाद अब कभी भी जन्म नहीं होना है, इस कारण उसे पंडितपंडितमरण कहते हैं। यहाँ समाधिभक्त संत अपने लिए सन्यासमहित मरणकी प्रार्थना कर रहा है।

सन्यासमरणका प्रभाव—ऋषी संतोंने बताया है कि यदि सन्यास सहित मरण किसीका बन जाय अर्थात मरण समयमें रागद्वेष मोहके विकल्प विकार न आयें और शुद्ध चैतन्यस्वरूपके स्मरण सहित मरण हो जाय तो सन्यास मरण करने वाला अधिकसे अधिक कुछ ही भवोंमें निर्वाणको प्राप्त होगा। समाधिमरणकी इतनी बड़ी महत्ता है। लेकिन घरमें जिस बड़ेने या किसी ने जिन्दगी भर घरकी सेवा की, परिजनोंकी सेवाकी, सारा जीवन उनके ही लिए लगाया, यों कहो कि कोल्हूके बैलकी तरह भी जुते, अपने आपका कुछ उपकार करनेका भी अवकाश नहीं पाया इस तरह तो परिजनोंके लिए जिन्दगी लगाया, लेकिन मरण समयमें न परिजनोंका यह ख्याल है कि इनका एक दो घटेका समय धर्मसाधनापूर्वक व्यतीत हो, आत्मस्वरूपकी भावनामें और प्रभुभक्तिमें व्यतीत हो, ऐसा इनका सुयोग मिलायें, ऐसी भावना तक भी परिजनोंमें नहीं होती। मरते मरते तक भी खाने पीने दवा और प्रकारके आराम, खुशामद, ये सभी

तरहकी दुनियाकी खुशामदें तो करेंगे, पर धार्मिक सेवाका ध्यान नहीं रहता और परिजन भी क्या करें? मरने वाला भी स्वयं ऐसी राग मोह भावनामें रहता है कि उसका भी चित्र नहीं चाहता किन्तु वह पुरुष धन्य है जिसका चित्त मरण समयमें सल्लेखना संन्यासपूर्वक मरणकी अभिलाषा रखता है और वे कुटुम्बीजन धन्य हैं जो उस मरने वालेके प्रति सच्ची मित्रता निभाते हों। समाधिमरणका बहुत ऊँचा महत्त्व है।

गुरुमूलमें सन्यासमरणकी अभ्यर्थना—यह समाधिभक्त संत अपने लिए अभ्यर्थना कर रहा है कि मेरा जन्म-जन्ममें संन्यास सहित मरण होवे। गुरु जहाँ विराजमान हों उनके चरणोंके निकटमें मेरा सन्यास मरण होवे। इस जीवके सच्चे सहाय, शरण, साथी गुरु ही हैं। जीवको मिलता क्या है? केवलभाव। हर जगह किसी भी प्रसंगमें यह भाव ही बनाता है। भावोंके अतिरिक्त अपनेमें और कुछ प्राप्त नहीं करता। जो बाहरी पौद्गलिक सम्पदा ढेर है, जिसको पाकर लोग समझते हैं कि मुझे इतनेका लाभ हुआ है, मेरी सम्पदा इतनी बढ़ गई है, तो यह विकल्प किया करें, पर सम्पदा तो सम्पदाकी जगह है। सम्पदाके स्वरूपमें उसका रंचमात्र भी लेश भी वहाँसे निकलकर उसके आत्मामें नहीं आया, तो फिर लाभ क्या रहा? सर्वथा यह जीव परसे रीता ही रहता है। फिर रागी, द्वेषी, मोही, परिजन, मित्रजन, रिश्तेदार इन सम्बन्धियोंका जो शरण है, इनके मूलमें, इनके बीचमें जो मरण है वे इसके मरणके बिगाड़ने के कारणभूत हैं। कोई कोई ही ज्ञानी संत परिजन मित्रजन होंगे कि जो इसके सन्यासमरणकी चाह करते हों।

मुनिसमुदायके मध्य सन्यासमरणकी अभ्यर्थना—मरण समयमें जैसे भाव होते हैं वैसे संस्कार चलते हैं और जन्म समयमें जो संस्कार बना उसका प्रभाव जीवन भर रहता है। यदि समतापूर्वक मरण हो, प्रभुभक्ति सहित मरण हो तो ऐसा पुण्यवान जीव अगले भवमें भी पुण्य सम्पदाको भोगेगा और पूर्ण महत्त्व तो इसमें है कि ऐसी सद्बुद्धि जगे कि समस्त परतत्त्वोंसे विरक्ति बने और आत्मस्वरूपमें रमण हो। ये सब बातें संन्यासमरणके प्रतापसे सुगम हो जाती हैं। हे प्रभो! मेरा संन्यास सहित मरण हो और गुरुके मूलमें, जो मेरे शिक्षक हैं, आचार्य हैं उनके चरणोंमें मेरा सन्यास सहित मरण हो। मुनियोंके समुदायमें मेरा मरण हो। इस जीव पर प्रभाव पड़ता है वातावरणका, जैसे मंदिरमें शास्त्र पढ़ रहे हों, तो इतना बड़ा कमरा बहुतसे लोगोंके घरमें है और वहाँ शास्त्र पढ़ने कोई बैठ जाय, सुनने वाले लोग सुनने बैठ जायें तो यह वातावरण कहाँ प्राप्त हो सकता है? जहाँ बहुतसे मुनिजन विराजे हों, जो संसार

शरीर भोगोंसे विरक्त हैं, जिनकी केवल एक आत्मस्वरूपमें रमा जाने की धुन है, ऐसे मुनि समुदायके बीच पहुचते ही उपयोग बदल जाता है।

मुनिसगसे अधमोका भी उद्धार—देखिये गुरुसत्संगका महत्त्व—अधमसे अधम पुरुष भी मुनि संग क्षणमात्रको भी पाकर तिर गए। एक कथानक में कहते हैं कि कोई लकड़हारा था। वह बहुत गरीब था। एक दिन वह जंगलमें लकड़ियाँ बीनने गया था। वह बेचारा फटी पुरानी धोतीका एक टुकड़ा लगोटाकार रूपमें पहिने हुए था। उसे जंगलमें एक निर्ग्रन्थमुद्राधारी मुनिराजके दर्शन हुए। उन्हें देखकर सोचा— ओह! मैं व्यर्थ ही अपनी गरीबीके कारण दुःखी रहा करता हूं, यह व्यक्ति तो मेरेसे भी गरीब, अधिक गरीब है। इसके पास तो एक भी वस्त्र नहीं है। खैर, थोड़ी देरको वह लकड़हारा उस मुनिके पास गया। मुनिने उसे देखते ही अपने ज्ञानबलसे जान लिया कि यह भव्य है, इसकी सिर्फ तीन चार दिनकी ही आयु शेष है। मुनिराज ने उसे कुछ उपदेश भी दिया। बादमें जब मुनिराज चर्याके लिए पासके किसी नगरमें गए तो वह लकड़हारा भी मुनिराजके पीछे पीछे गया। वहाँ तो बीसों चौके लगे थे और सभी लोग हाथ जोड़-जोड़कर मुनिराजको आहार करने हेतु बुला रहे थे। मुनिराज ने तो आहार ले लिया और नगरके लोगोंने उस लकड़हारेको भी ब्रह्मचारी जैसा समझकर आहारके लिये बुलाया। तो जब पहिलेसे ज्यादा आदर हो जाता है तो उस आदरसे ही पेट भर जाता है। खाना पीना नहीं चलता। आहार करके फिर मुनिराज जगल आये और दो दिनका उपवास का नियम लेकर ध्यानमें बैठ गए। वह लकड़हारा भी उसी जगलमें आकर मुनिराजके पास बैठ गया। जब दूसरा दिन हुआ तो वह लकड़हारा बोला—आज भी आप आहार लेने चलिए, देखो हम तो कल भूखे रह गए। मुनिराज मौन रहे। तो वह लकड़हारा मुनिराजका पिछी कमण्डल लेकर नगर पहुचा तो नगरके लोगोंने उसे क्षुल्लक समझकर बड़े आदरसे बीसों लोगोंने पड़गाहा। उस दिन भी विशेष आदर होनेसे आहार न लिया। लोगोंने सोचा था कि हम लोगोंसे विधि नहीं बनी, इसलिए इन महाराजने आहार नहीं लिया। अब वह लकड़हारा वापिस उसी जगलमें आया और पिछी कमण्डल मुनिराजके पास रख दिया। वह लकड़हारा वहाँ मुनिराजके पास बैठ गया। मुनिराजने ध्यान समाप्त होनेके बाद उसे उपदेश दिया, तत्त्वस्वरूप बताया, उसका होनहार अच्छा था। उसे ज्ञानप्रकाश हुआ। मुनिराज ने बताया कि तेरी आयु शीघ्र ही समाप्त होने वाली है, इस थोड़ेसे समयमें तू अपना कल्याण करले। उस लकड़हारे ने वहीं पर नियम सयमके व्रत लिए और संन्यासमरण करके स्वर्गा-

दिकमें उत्पन्न हुआ। तो प्रयोजन यह है कि सज्जनोंका क्षणमात्रका भी संग इस जीवके भलेका कारण बनता है। भैया! कुसंगसे मिथ्या विपरीत मार्गमें दृष्टि लग रही है, बस इतना ही तो फर्क है कि बुद्धि असार विकल्पोंकी ओर लग रही है, बस उनसे हटनेकी बात है। कोई संग मिले और उस असार विपरीत मार्गसे बुद्धि हट जाय, फिर उसके लिए मार्ग तो खुला ही हुआ है।

जिनबिम्बके निकट सन्यासमरणकी अभ्यर्थना—यहाँ समाधिभक्त ज्ञानी भक्त यह अभ्यर्थना कर रहा है कि हे प्रभो! मेरा सन्यास सहित मरण हो और मुनि समुदायके बीच हो। जहा जिनबिम्ब निकट हो, जिन प्रतिमा जो मूर्ति, लोगोंको मानो उपदेश दे रही है कि ऐ संसारके प्राणियों! इस जगतमें कहीं कुछ सार नहीं है तुम अकिञ्चन हो, देहसे भी निराले हो, सर्व परिग्रहोंकी वाञ्छा छोड़कर, सर्वसे रागद्वेष छोड़कर ऐसी निर्ग्रन्थ मुद्रामें रहो और अपने आपमें प्रभुको निरखो तो तुम्हें प्रभुके दर्शन होंगे और सत्य अलौकिक आनन्दकी प्राप्ति होगी। जिसकी मुद्रा अकिञ्चनरूपमें है, कोई वस्त्र नहीं, कोई स्त्री पुत्रादिक नहीं, कोई हथियार नहीं, केवल गातमात्र है और वह भी एक पद्मासनसे ध्यानस्थ, जो मुद्रा संकेत कर रही है कि दुनियामें कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहां जाया जाय तो सार मिले, इस कारण पैरोंसे पैरोंको जकड़ करके मैं बैठ गया हू। अब मुझे कहा जाना है? लोकमें कोई ऐसा स्थान नहीं जहा कोई लाभ की बात प्राप्त हो सकती हो, जगतका कोई भी कर्तव्य ऐसा नहीं जो मेरे भलेके लिए हो, इसलिए हाथ पर हाथ रखे बैठा हू, हे भक्त! तुम भी इसी मुद्रामें बैठकर अपने आपमे प्रभुका दर्शन करो। कुछ भी बात यहा ऐसी नहीं है जो बोली जानी चाहिए। बोलनेमे क्या सार है? उस बोलने का परित्याग करके पूर्ण मौनसे रहो। लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसको आखों देखा जाय, जो देखने लायक हो, जो मेरे लिए कोई सार लाभकी बात दे सकता हो। इस कारण ये नेत्र देखो—परको देखने से रहित है। नासाग्रदृष्टि। तो नासिकाके स्थान पर जिसकी दृष्टि है, अपने आप ऐसी मुद्रा भव्य जीवोंको उपदेश दे रही है। तो जिसकी मुद्रा के दर्शनसे ही बहुतसे पाप संकट टल जाते हैं, उस जिन-बिम्बके समक्ष मेरा सन्यास सहित मरण हो।

मूर्तिमें मूर्तिमानकी पूजा—भैया! अब आजकल साक्षात भगवान्के दर्शन तो होते नहीं इस क्षेत्रमें, तो भगवानकी मूर्तिमें ही भगवानकी स्थापना करके उससे कुछ शिक्षा ग्रहण करते रहें। वह मूर्ति ही भगवान नहीं है, किन्तु जब जिसके प्रति विशेष आदर होता है तो उसकी हम

फोटोमें, मूर्तिमें स्थापना करते ही हैं। जैसे यहाँ ऐसा रिवाज है कि लोग अपने घरमें किसी बड़े बाबा दादा आदिके मरण हो जाने के बाद उनकी फोटो बनाकर उस फोटोको ही उस रूपमें मानकर पूजते हैं। उस फोटो का अगर कोई अनादर करे तो वह अनादर किसीको सहन नहीं होता है, इसी तरहसे भगवानके भक्त लोग भगवानकी स्थापना मूर्तिमें करके उस मूर्तिको भगवानके रूपमें मानकर पूजते हैं। तो उस मूर्तिको वे नहीं पूजते किन्तु उस मूर्तिमें स्थापित ज्ञानानन्द पुञ्ज, ज्ञायक स्वभाव भगवानको पूजते हैं कि हे प्रभो! मेरा जिनबिम्बके निकट सन्यास सहित मरण होवो।

समाधिभक्तकी सिद्धान्तवार्धिसद्घोषके बीच सन्यासमरणकी अभ्यर्थना— समाधिभक्त संत यहाँ अभ्यर्थना कर रहा है कि जहाँ पर सिद्धान्तरूपी समुद्रके उत्तम शब्द हो रहे हों वहाँ मेरा सन्यास सहित मरण होवो। परमेष्ठी मंत्रका उच्चारण, गुणगुणोंकी कथा प्रभुचरित्र, आत्मस्वरूप ये सब वहाँ वर्णित हो रहे हों, ऐसे शब्दोंके बीच मेरा सन्यासरहित मरण होओ। किसी समय प्रथा थी कि मरणकाल जब निकट आये तो उस मरने वालेका लोग सन्यास मरण कराते थे, लेकिन जैसे-जैसे समय गुजरा वैसे ही वैसे उसमें परिवर्तन आता गया। उस समयकी कुछ क्रियायें तो अब भी की जाती हैं, पर यह पता ही नहीं है कि ये क्रियायें किसलिए की जाती हैं। जैसे कि जब जान लिया कि अब इसका १०-१५ मिनटमें ही मरण होनेको है, अब अधिक समय न लगेगा तो उसे खाटसे नीचे लिटा देते हैं। यह समाधिमरणका ही तो संकेत है, पर लोग इसे नहीं जानते। कपड़े भी हटा देते हैं, कोई एक आध कपड़ा रख लेते हैं, यह है सन्यासमरणकी प्रक्रिया, पर इसको लोग समझते नहीं हैं। और शायद वे इस भावसे नीचे लिटा देते हों कि पलगपर ही यदि इसका मरण हो गया तो पलग अशुद्ध हो जायेगा, इसे फेंकना पड़ेगा। चाहे अब यह भाव लोग रखते हों कि यदि ज्यादा कपड़े उढ़ाकर रखेंगे तो फिर इसका मरण हो जाने से ये सारे कपड़े बेकार हो जायेंगे। रिवाज भी ऐसा है कि जिन वस्त्रोंको ओढ़े हुए मरण होता है उन्हें घरमें नहीं रखा जाता। किसीको दे दिये जाते हैं। तो अब चाहे लोग यह भाव करने लगे हों, पर ये सब प्रक्रियामें सन्यासमरणका संकेत करने वाली हैं।

सन्यसनका अर्थ—सन्यासका अर्थ है समीचीन रूपसे न्यास यहाँ— त्यागना फैंकना, दूर करना, (परतत्त्वोंको) अथवा न्यासका अर्थ रखना भी है। सम्यक् प्रकारसे रत्नत्रयरूप धर्मको रखना, जहा केवल आत्म-विश्वास, आत्मज्ञान और आत्मरमण की ही प्रक्रिया चल रही हो ऐसी

प्रक्रिय ो कहते हैं सन्यास। तो सन्यासपूर्वक मरण होवो उसे संन्यास मरण ते हैं। इसका दूसरा नाम है सल्लेखनामरण। लेखन कहते हैं फाड़नेको अर्थात् सम्यक् प्रकारसे विषय कषाय विकार परिणामोंको हटाना फाड़ना, दूर करना इसको कहते है सल्लेखना। सल्लेख पूर्वक मरण होने को सल्लेखनमरण कहते हैं इसका ही नाम है समाधिमरण। सम्यक्प्रकार से जो शुद्ध तत्त्व है, ज्ञानका अज्ञानमें समा जाना, ज्ञानस्वभावको ही जानते रहनेकी स्थिति होना यह परमतत्त्व जहाँ सम्यक् प्रकारसे ग्रहण किया जाता है, आधेय होता है उसको कहते हैं समाधि अथवा रागद्वेष रहित केवल विशुद्ध जाननकी स्थितिको कहते हैं समाधि।

समाधिमरणका महत्त्व—भैया! समाधिपूर्वक मरण होनेका नाम है समाधिमरण। जब यह भव छूट ही रहा है और छूटनेके बाद फिर इस भवके समागमसे कोई सम्बन्ध रहेगा ही नहीं, तब इस थोडेसे १०-५ मिनटके समयमें यदि इन समस्त समागमोंसे मुक्ति पाले। इनसे चित्त हटा ले और अपने स्वरूप, स्वभावमें चित्तको लगा ले तो ऐसे समाधि सहित मरणसे इसको बड़ा लाभ मिलेगा और समाधि रहित होकर मरण करे तो दुःखी होकर विल्ला करके तो यहाँ मरण किया और दुःखी होकर विल्लाकर अगले भवमें उत्पन्न होंगे और अगले भवमें भी दुःख क्लेशों के ही वातावरण मिलते रहेंगे। समाधिमरणका महत्त्व जानें और अपने उपयोगमें यह निर्णय बना ले कि मेरा उपकारी तो मात्र समाधिमरण है और उसही समाधिमरणकी हमें अभीसे ही तैयारी करनी है। जब हम मंदकषायसे रहें, देव, शास्त्र, गुरुके श्रद्धानमें रहें, आत्माके सत्यस्वरूपमें उपयोग जमानेका यत्न करें, हमारा यह जीवन व्रत नियम संयमपूर्वक व्यतीत होगा तो हममें वह पात्रता रहेगी कि मरणकाल आने पर हम क्षोभ न करेंगे और आत्माके विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावका स्मरण उपासना करते हुए इस देहको छोड़ेंगे। जैसे संस्कार लेकर इस देहको छोड़कर जायेंगे उसके अनुसार ही हमारी अगले भवकी सृष्टि बनेगी। समाधि-मरण बहुत महत्त्वकी चीज है। इसलिए हम आप सब यह भावना रखें कि हमारा समाधिपूर्वक मरण हो। गुरुके निकट, मुनि समुदायके निकट, जिन-बिम्बके निकट और निष्कलंक, विमल, निर्दोष कल्याणकारक मंगल-मय इन वचनोंके बीच मेरा मरण हो।

जन्मजन्मकृत पाप जन्मकोटि समार्जितम्।
जन्ममृत्युजरामूलं हन्यते जिन वन्दनात् ॥५॥

जिनवन्दनसे जन्मजन्मकृत पापका विघात—जिन स्वरूपकी वन्दना करनेसे जन्म-जन्ममें किए गए पाप, करोड़ों जन्मोंमे अर्जित पाप जो कि

जन्म जरा मरण के कारणभूत हैं वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जि स्वरूप है निष्पाप। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ ये पाप कहल हैं। इन पापोंसे रहित केवल ज्ञानमात्र स्वरूप है जिनका, परमात्मा, ः का उस जिनस्वरूपका जो अभिनन्दन करता है उस जिनस्वरूपको अपने उपयोगमें विराजमान करता है उस उपयोगयुक्त जीवमें नया प भी नहीं आता और जो जन्म-जन्ममें उत्पन्न किये गए पाप थे वे भी न हो जाते हैं। प्रथम तो यह देखिये कि उपयोगमें जब प्रभुस्वरूप समा हुआ है तो उस समयमें काम, क्रोध, मान, माया, लोभादिक विकार ः नहीं कर पाते। तो तत्काल भी देखिये पाप नष्ट हो गए और जन्म-ज में जो इन पाप परिणामोंके कारण अशुभकर्म बँधे थे वे कर्म भी निर्ज को प्राप्त हो जाते हैं। यह बात निमित्तनैमित्तिक विधिपर बिल्कुल स उतरने वाली है। जब जीव कषाय करता है तब कर्म बँधते हैं। तो उ जीव कषाय न करे तो कर्म न बँधेंगे। कषाय अति मंद हो तो मंद क बँधेंगे। तो जिन-वन्दनाके समयमें, प्रभुस्वरूपमें अपना उपयोग लगाने समयमें विषय, कषाय, इच्छाओंका वहां अवकाश है? अथवा वह हो भ तो है अव्यक्त, जब मंद उदयमें हो तब नवीन कर्म भी मंद होंगे, बँधेंगे और पूर्वमें बंधे कर्म भी निर्जराको प्राप्त होंगे।

जिनवन्दनसे पापक्षयके कारणका मर्म—जैसे गीली धोतीमें रेत (धू लग गई तो रेत (धूल) तुरन्त भी लगी। कुछ देर बाद भी लगी, इ चलती रही १५-२० मिनट तक धूल बराबर चिपटती रही, लेकिन उ धोती सूख गई तो जरासे झटकेमें ही सारी धूल झड़ जाती है। इसी प्रक इस जीवमें कषाय भावके कारण जन्म-जन्ममें पाप बँध रहे हैं, हजार लाखों, करोड़ों वर्षोंके पापकर्म अब भी इस जीवमें पड़े हुए हैं। वे सारे सारे पापकर्म एक जिस कालमें ज्ञानप्रकाश जग जाय और कषायों भिन्न अविकार ज्ञानमात्र निज तत्वकी दृष्टि रमे, ऐसे स्वरूपमें करो जन्मोंके भी पाप एक साथ क्षणभरमें ही ध्वस्त हो जाते हैं। क्यों खिरेंगे? निमित्तनैमित्तिक भाव है ऐसा। रसोई बनाने वालेको क कभी यह सन्देह होता है कि कल तो रोटियां बन गयी थीं, आज भी ब सकेंगी या नहीं। सिगड़ी, आटा कोयला, जल आदिक सभी सामग्रि तैयार हैं फिर भी कोई संदेह करे कि पता नहीं आज रोटियां बन पाय या नहीं, ऐसा तो कोई नहीं करता। वह तो एक निमित्तनैमित्तिक भ की बात है। तो ऐसे ही यह भी बिल्कुल निमित्तनैमित्तिक भावकी ब है, कषाय करेंगे तो कर्म बँधेंगे। कषायें न रहेंगी तो करोड़ों जन्मोंके ः पापकर्म क्षणमात्रमें खिर जायेंगे। तो जब निष्कषाय प्रभुके स्वरूप

ध्यान होता है, उपयोगमें वह वीतराग सर्वज्ञ प्रभु समाया हुआ होता है तो वहा पापकर्म नहीं बँधते और इसी कारण करोड़ों जन्मोंके भी पहिले के बँधे हुए पाप खिर जाते हैं।

सम्यग्ज्ञानकी महिमा—सम्यग्ज्ञानकी महिमाका तो कोई वर्णन कर ही नहीं सकता। जिन जीवोंका ससार निकट है, जो भव्य जीव हैं, जिनका इस जन्म, जरा, मरण, शरीर इन सबसे छुटकारा मिलनेका समय आया है। आयेगा चाहे करोड़ों वर्षों बाद, सागरों बाद, फिर भी वह निकट ही कहलाता है। अनन्तकालके सामने लाखों सागर बाद भी अगर मोक्ष मिलनेकी बात होती है तो वह निकट ही कहलायेगा। जिनका मोक्ष निकट है ऐसे पुरुषोंको ज्ञानप्रकाश पानेकी प्रीति उत्पन्न होती है। सबसे बड़ी विपदा तो जीवों पर आयी है परपदार्थोंके प्रति सही ज्ञान न होना और इसी कारण परको अपना मानना और परकी वृद्धिमें, तृप्तिमें, उन्नतिमें अपनेको अहोभाग्य समझना, पुण्य समझना, मेरा बड़ा अच्छा पुण्यका उदय है। जो विचारते हैं तुरन्त काम होता है। अरे पुण्यका क्या उदय है ? धोखेका उदय है, इससे क्या लाभ कि जो हम चाहें वह तुरन्त हो जाय ? इससे आत्माको क्या मिलेगा ? इससे क्या लाभ जो बिना यत्नके ही खूब धन सम्पदाकी प्राप्ति हो रही है। आखिर वे सब परपदार्थ हैं, परपदार्थमें जो दृष्टि है, आकर्षण है, लगाव है वह तो विपदा है, वह तो अज्ञान है। उस अज्ञानके रहते हुए तो हमें भलाईकी कोई आशा नहीं। इस जगतमें सख्या तो मिथ्यादृष्टियोंकी, मोहियों की, अज्ञानियोंकी ज्यादा है। ज्ञानकी रुचि वाले, कल्याणकी रुचि वाले पुरुष तो करोड़ोंमें से एक दो ही मिलेंगे। तब यह भी एक विपदा है कि उन्हीं करोड़ों में तो रहना है जो मिथ्यात्वके रुचिया हैं, अज्ञानसे जिनका लगाव है, ऐसे पुरुषोंके बीच रह रहे हैं, यह भी एक बड़ी विकट समस्या है कि उनकी देनसे बचे रहें और अपने आपमें अपने को सभाले रखें, यह भी बहुत बड़ा कठिन काम है और उन लाखोंके वैभवोंको, आरामको मौजको देखकर अपने धार्मिक ध्यानसे विचलित न होना, यह भी बहुत कठिन सा काम है, किन्तु जिनको अन्तस्तत्त्व स्पष्ट हो गया वे कभी मान ही नहीं सकते दूसरी बात।

अनुभूत ज्ञानस्वरूपके ज्ञानकी अविस्मृतरूपता—जैसे जिसने कोई चीज आँखोंसे देख ली है और उसे कोई मना करे कि यह नहीं है तो वह तो उसे मान ही नहीं सकता, क्योंकि उसको प्रत्यक्ष हुआ है कि मैंने आँखों देखी है। किसी बच्चेके कामकी चीज हो और वह अपने पिताकी जेबमें उस चीजको देख ले तो चाहे वह पिता उसे कितना ही मना करे कि वह

चीज नहीं है मेरी जेबमें, पर वह बच्चा कैसे माने ? क्योंकि उसने तो अपनी आँखों उस चीजको देख लिया। तो आँखोंसे भी जबरदस्त प्रमाण है स्वसम्वेदनका। आँखों देखी बात चाहे झूठ हो जाय, कानों सुनी बात चाहे झूठ हो जाय, पर स्वसम्वेदनमें अनुभवमें उतरी हुई बात झूठ न हो सकती। वह प्रमाणभूत है। इन्द्रियज ज्ञानोंसे भी प्रबल प्रमाण है स्वसम्वेदन ज्ञान। तो जिस जीवको एक ज्ञानप्रकाशके और शान्तिके वातावरणमें सहज ही समस्त परतत्त्वोंसे उपेक्षा हो जानेके कारण अपने आपमें सहज ज्ञानस्वरूपका ज्ञानमें सम्वेदन हुआ है, अनुभव हुआ है। निर्विकल्प स्थितिसे जिसका अनुभव किया है उस ज्ञानप्रकाशका अनुभव होनेपर और उसके साथ ही साथ अलौकिक स्वाधीन अनुपम आनन्द प्राप्त करने पर फिर विश्वके मायामय वैभव अथवा कोई भी सांसारिक बात फिसलाना चाहे तो फिसला नहीं सकता। इस ही जीवके यदि पापकर्मका उदय आये और ऐसा आवरण आये, ऐसा दर्शन मोहका ही उदय आ जाय कि जिसके अपने आपके सहज स्वरूपके सवेदनकी स्मृति तक भी न रहे अर्थात् स्वयं हो मिथ्यात्वी अज्ञानी बने तो भले ही परविषयोंमें हित माननेकी बुद्धि करलें लेकिन यहां भी यह नियम है कि जिस जीवने एक बार भी किसी भी समय निर्विकल्प अविकार ज्ञानज्योतिमात्र अन्तस्तत्त्वका अनुभव कर लिया है कर्मोदयवश चाहे वह अपने मार्गसे गिर भी जाय तो भी उसका उद्धार निश्चित है। फिर पायेगा ज्ञानप्रकाश।

शरणभूत ज्ञायकस्वरूप सहज अन्तस्तत्त्वका मंगलमय आग्रह— मैं ।। समझ लीजिए—इस अनन्तकालमें इस विस्तृत लोकमें हम आपको शरण केवल एक ज्ञानका अनुभव है, दूसरी कोई बात शरण नहीं है। जैसे कोई बालक कुछ चीज लेने पर रूठ जाय, हमको तो यह चीज इतनी लेनी है। अधिक लेनी है और माँ बाप न दें, तथा वह बच्चा भी उस चीजके लेनेमें बहुत हैरान हो जाय तो उस बच्चेकी दृष्टि भी उस चीजके लेनेसे एक दम दूर हो जाती है। फिर उसके माँ बाप चाहे कितना ही समझायें पर वह उस चीजको लेना स्वीकार नहीं करता। तो इसी प्रकार यह जगतका वैभव है। जब इस वैभवकी चाह है तब यह प्राप्त नहीं होता और जब इस वैभवकी चाह न रही तब यह प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टियों को धन वैभव अधिक नहीं प्राप्त होता। सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, शुद्ध तत्त्वके दर्शी जीवों का ही ऐसा पुण्यका उदय होता है कि उन्हें सर्वोत्कृष्ट वैभव मिलता है। सो जब अज्ञानी थे, धन वैभवकी खूब चाह कर रहे थे तब धन वैभवकी प्राप्ति नहीं हो रही थी और जब ज्ञानप्रकाश जगा, धन वैभवकी चाह न रही तो अटूट वैभवकी प्राप्ति होती है। इन्द्र भी उनकी सेवा करते हैं

तब फिर इस वैभवकी चाह करनेसे लाभ क्या ? सबसे महान् पाप अज्ञान का है, मिथ्यात्वका है। मिथ्यात्वमें तो पाप निरन्तर बँध ही रहे हैं कठिन से कठिन। चाहे वह नामका ही धर्म कर रहे हों। चाहे गुरुजनोंकी सेवा मे अथवा तन, मन, धन, न्यौछावर कर रहे हों, सब कुछ कर रहे हों, पर यदि मिथ्यात्व है तो मिथ्यात्वके कारण रौद्रपापका बंध निरन्तर हो रहा है। एक उस संधिकी जगह पर शिथिल होने और दृढ होने भरका अन्तर है और ज्ञानी जीव जिसको ज्ञानप्रकाश जगा है, अविकार अंतस्तत्त्वका अनुभव किया है वह कभी विनोद भी हो, बाह्य प्रसगमें भी हो, किसी भी स्थितिमें हो उसके वे कर्म बँधते ही नहीं हैं। जो मिथ्यात्वमें बँधा करते हैं। जो भी कर्म बँधते हैं वे भी शिथिल अनुभागको लेकर बँधते हैं। यह सब है सहज ज्ञान ज्योतिमात्र अन्तस्तत्त्वके दर्शनका प्रताप।

निर्नाम सहज अन्तस्तत्त्वकी प्रभुता—इसी सहज अंतस्तत्त्वका नाम है प्रभु जिनेन्द्रदेव। नाम रखे बिना तो व्यवहार चलता नहीं, जिसका नाम न हो सके, जो निर्नाम है उसका भी नाम रखना ही पड़ेगा और उससे फिर संकेत लेकर लोगोंकी प्रवृत्ति होगी। इस मंगल लोकोत्तम शरणभूत अन्तस्तत्त्वका कोई नाम नहीं और नाम बिना कुछ बोला ही नहीं जा सकता। अंतस्तत्त्व शब्द बोला वही एक नाम हो गया। कुछ भी बोले वही एक नाम हो गया। तो यह संकेतकी चीज है। वस्तुका नाम नहीं है। पदार्थका नाम नहीं है, इस बातको तो जरा दूर रहने दो। यहाँ ही जितने मनुष्य हैं इन मनुष्योंका कोई नाम नहीं है। हम आप जितने भी लोग यहाँ बैठे हुए हैं इनका किसीका कुछ नाम नहीं है। शरीरकी ओरसे, पदार्थोंकी ओरसे कोई नाम बना हो तो बतलावो। लोगोंने कल्पना किया नाम धर दिया, सो नाम चल उठा। शरीरमें रूप तो है, पर नाम नहीं है। किसी विदेशी व्यक्तिको आप यहाँ बुलालें और उससे यहाँके किसीको दिखाकर उसका नाम पूछें तो वह उसका नाम बता सकता है क्या ? नहीं बता सकता। वह तो शरीरके इस काले, पीले आदिक वर्णको ही जान पायेगा पर उसका नाम नहीं बता सकता, क्योंकि उसका कुछ नाम है ही नहीं। गंध भी वह जान लेगा, क्योंकि शरीरमे गंध है, पर नाम नहीं जान सकता। शरीर को निरख कर कोई किसी का नाम तो नहीं बता सकता, क्योंकि वस्तु का कुछ नाम ही नहीं है। नाम तो व्यवहार का काम चलाने के लिए रख लिया जाता है। तो यहा तो नाम लेकर लोग उसे बाँध देते हैं लेकिन जो सहजज्ञानस्वरूप है, मंगल, लोकोत्तम शरणभूत अन्तस्तत्त्व है उसको बाँध भी नहीं सकते किसी नामसे फिर भी बाँधना तो पड़ता ही है। तो यह अविकार सहज आत्मा अपने आपसे अपने आप ही सत्व

के कारण जैसा स्वयं है वैसा ही रहे और बात संगमें नहीं लिपटे, वह है प्रभु।

जिनवदनसे पापक्षय एव समाधिलाभ—प्रभुका नाम जिन इसलिए रख दिया कि यह आत्मा पहिले विषय कषायोंमें रत था और उसने विषय कषायोंको जीता, दूर किया, रागद्वेष हटाया तो वह जिन कहलाया। जो विकारोंको जीत ले दूर कर दे उसका नाम जिन है। वस्तुतः प्रभुका कोई नाम नहीं है। तो ऐसा जो अविकार ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूप की वन्दनासे, नमनसे उपयोगमें निरन्तर ध्याये जानेसे करोड़ों जन्मोंके भी पाप कट जाते हैं। जिन पापोंका काम था इस जीवका जन्म जरा मरण बनाते रहना, तो इसका अर्थ है कि -उस ज्ञानज्योतिके अनुभवके प्रसादसे जन्म जरा मरणकी परम्परा समाप्त हो जाती है। समाधिभक्तिमें यह समाधिभक्त संत उस अतस्तत्वकी भावनामें लग रहा है कि जिसके प्रसादसे समताभाव, समाधिभाव जागृत होता है। यह अन्तरङ्ग की बात है, दिखावटकी बात नहीं है। जिसका होनहार भला है उसमें गुप्त ही गुप्त अन्दरमे यह बात बन जाती है। प्रयत्नसे न बने, सहज बने, फिर भी काम तो प्रयत्न करनेका है। प्रयत्न करते हुए जब भी सहज बन सके बन जाय, किन्तु अपना तो पुरुषार्थ करने का काम है।

समाधिभावके प्रयत्नोंमें शास्त्राभ्यास व प्रभुभक्तिका स्थान—समाधिलाभ का पुरुषार्थ यही है जैसा कि समाधिभक्तिके दूसरे छन्दमें बतलाया था कि मुझे ७ बातें जन्म जन्ममें प्राप्त हों। वे ७ बातें क्या हैं? जो समाधिभावके वास्तविक प्रयत्न हैं। उन ७ बातोंकी आज्ञा मानकर कोई अपना जीवन बिताये तो उसको नियमसे कल्याण लाभ होगा। वे ७ बातें ये हैं शास्त्रका अभ्यास बनाना—कोई शास्त्र पढ़ता हो उसे सुनना, स्वयं बांचना सुनते सुनाते हुयेमें तत्त्वका गुनगुनाना, चित्तमें रखे रहना, उस शास्त्रका जो निचोड़ है, जो कुछ थोड़ेसे शब्दोंमें अपना निष्कर्ष निकला है उसको ध्यानमें बनाये रखना, थोड़ेसे मंत्रजापसे या उस सार बातके वचनसे चित्त उसीमें रमाये रहना यह सब शास्त्राभ्यास है। प्रभुभक्तिमें अपना चित्त लगा रहना, यह बड़ी श्रद्धाका सूचक है। शरीरमें निरन्तर संकट है। यहां शरण लेने योग्य कुछ भी पदार्थ नहीं है। इस भावकी सूचना मिलती है प्रभुभक्तिमें। जो श्रावक प्रभुभक्ति करते आये हैं उनको निरख करके यही स्पष्ट ज्ञान होता है कि इनका कहीं मन नहीं लगा, परकी किसी चीज में, सो देखो घर छोड़कर ये मंदिरमें आये और प्रभुस्तवनमें लग गए। लगता तो ऐसा ही है, अब उनका दिल जाने कि वे क्या कर रहे हैं, पर जो लोग भी मंदिरमे दर्शन करने आते हैं उनकी मुद्राको देखकर, उनके

गानतानको निरखकर तो ऐसा ही लगता है कि ये बडे उज्ज्वल पुरुष हैं, इनका घरमें कहीं मन नहीं लगा। इन्हें कोई शरण न जगा। सब उपद्रव जँचे, सारे सकट जँचे, सो उन संकटोंको टाल करके और यहां प्रभु शरणमें आये हैं और प्रभुभक्ति कर रहे हैं, तो जिनेन्द्रदेवके स्मरणसे, प्रभुभजन से श्रद्धाकी बात और भी बढती जाती है।

समाधिभावकी पात्रता बनाये रहनेके लिये सत्संग, गुणकथा, दोषमौन, सुवचनका स्थान—सदा सज्जन पुरुषोंके साथ सगति रहना—वे बड़भागी पुरुष हैं जिनको उत्तम पुरुषोंका सग मिलता रहता है। मदिरमें गए वहाँ उत्तम पुरुषोंका संग, रास्तेमें भी जहां कुछ खडे होते हैं, कुछ बोलते चालते हैं वहां उत्तम सग, घरमें गए, घरके लोग भी धार्मिक, तो वह भी उत्तम संग। जो जिस बातका अर्थी है उसको वह बात स्थान-स्थान पर मिल सकती है जो सत्सगका ही अभिलाषी है उसको थोड़े-थोडे समयके बाद भी रोज-रोज अनेक सत्संग मिल सकते हैं। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति ही इसी प्रकारकी होगी और जो महाविषयकषायी है उसको सर्वत्र उस तरह के साधन मिलते हैं। मिलते क्या, वह उस तरहके साधनमें रमता है। जिस सगमें आत्माको होश रहे, पापोंसे हट सके, साधुजनोंकी उपासना में चित्त लगे, वह संग उत्तम है, हितकारी है। अतः सत्संगका यत्न करना। बोले तो गुणकी बात बोले, दोषमें चुपचाप रहे, किसीका दोष-वाद न करे। बोले तो प्रिय हित वचन बोले। ये तो बाहरी पुरुषार्थ हैं और इन पुरुषार्थोंके बीच अथवा बाद जब चाहें आत्मतत्त्वमें भावना जागृत रखे।

समाधिभावके लिये आत्मतत्त्वभावनाका प्राधान्य—आत्मभावनाकी वृत्ति होगी तो फिर कल्याण कैसे न होगा? जो घोड़ा चल सकता है वह कुमार्ग में चल रहा हो तो उसको वशमें करके सन्मार्ग पर भी तो लगाया जा सकता है और बच्चोंके खेलनेके लकड़ीके घोड़े जिनमें कोई चाल ही नहीं है उन्हें कैसे सन्मार्गमें लाया जा सकता है? कोई पुरुष कितनी भी गिरी हालतमें आ गया हो, विषय कषाय मोह रागद्वेष जंजाल पापके फंदमें आ गाय हो लेकिन उसमें चलनेकी ताकत है तो उसे वश करके सन्मार्गमें लगाया जा सकता है। कोई यह सोचे कि जिन्दगी भर तो हमने ज्ञान-साधना नहीं किया, इतनी जिन्दगी व्यतीत हो गयी, हम विधि सहित किसी धर्मके ढगमें नहीं चले तो अब बुढापेमें क्या चलेंगे, ऐसा ख्याल छोड़ देना चाहिए। बहुत दिनों तक सन्मार्गमें नहीं लग सके तो अब न लग सकेंगे यह भ्रम छोड़ दीजिए। अगर यह नियम बनाते हैं कि बहुत दिन तक जो कुमार्गमें रहा उसका भला होना असम्भव है तो ऐसे तो सारे

जीव हैं। अनादिकालसे अनन्तकाल तक कुमार्गमें लगे। १०-२०-५० वर्षकी ही बात क्यों कहते ? तो नहीं की आत्मतत्त्वकी भावना, सारा समय गुजार दिया। गुजरने दो, शिथिल हो गए होने दो, शरीरसे नहीं सोचना है आत्मतत्त्वकी बात। सोचने वाला तो आत्मा है। वह सोचेगा आत्मतत्त्वकी बात। वह ज्योंका त्यों है। शरीर बूढ़ा हो गया तो क्या हुआ ? जाननेके बाद जो भी करे उसकी मनाही न होगी, वह जान लेगा। तो सर्व कुछ करते हुए भी हमें आत्मतत्त्वमें भावना बनानी है। ये सब बातें हमें प्राप्त हुई हैं, होंगी, हो रही है वीतराग सर्वज्ञदेव आप्तके स्रोत पापसे। वह है एक ज्ञानज्योति पुञ्ज तो उस प्रभुका स्मरण गुणोंका वंदन करनेसे उपाय भी बनता है और करोड़ों जन्म के उपार्जित किए हुए कर्म भी कट जाते हैं।

आबालाज्जिनदेवदेव भवतः श्रीपादयोः सेवया।
सेवासक्तविनेयकल्पलतया कालोऽद्ययावद्गतः ॥
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे।
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम ॥६॥

प्रभुसेवाके अलौकिकफलकी अभ्यर्थना—हे देवाधिदेव जिनेन्द्र ! अब तक बचपनसे लेकर आपके चरणोंकी सेवाके द्वारा जो हमारा इतना समय गुजरा है अर्थात जो आपकी सेवा की है ध्यान, स्मरण, भक्ति जिस किसी भी प्रकार उपासना की है उसके फलमें जो आज मैं आपसे माँगता हू। जो मागता हू सो सुनिये। यहा कुछ आसपास खड़े हुए सुनने वाले लोग सोचते होंगे कि क्या प्रभु रोज तगाजा कर रहे थे कि माग लो माग लो और हमने अब तक नहीं मागा और इसी कारण यह कह रहे हैं कि आज मागता हू। जैसे किस को बहुत मनाया जा रहा हो कि तेरी बहुत ऊँची उपासना है। तुमसे मैं बहुत प्रसन्न हो गया हू। हे भक्त ! तू कुछ तो माग ले, मानो रोज-रोज भगवान मागने को कह रहे हों और यह मना कर रहा हो। पर अब कह रहा है कि हे प्रभो ! आज मैं आपसे मांगता, हू। यद्यपि यह भक्त भगवानसे इन शब्दोंमें कह कर तो न मागता होगा, मगर बात ऐसी ही है। प्रभुके निर्दोष, प्रभुके वीतराग ज्ञानपुञ्जकी उपासना करने वाले पुरुषने अभी तक प्रभुसे कुछ न चाहा, पर आज वह भक्त कहता है कि हे प्रभो ! आज तक मैंने आपकी जो सेवा की उसके फलमें अब मैं मागता हूं। क्या फल मागता हू कि जब मेरे प्राण प्रयाण करें उस समय यह मेरा कंठ आपके नामके दो अक्षर, जिन, अरहत, प्रभु ज्ञानपुञ्ज आदिक रूपसे पढनेमें रुद्ध न हो जाय। अर्थात् आपका नाम स्मरण करता हुआ ये मेरे प्राण प्रयाण करें, केवल यह मागता हू, और

कुछ नहीं चाहता।

प्रभुभक्तके लौकिक लाभकी कल्पनाका अभाव—इस भक्तने और सब बातें ठीक-ठीक रूपमें समझ रखी हैं। धन वैभव कितना ही जुड़ जाय, इससे मेरे आत्माको क्या मिलता है? यह मैं आत्मा अब भी देहसे निराला समस्त प्रकट परपदार्थोंसे निराला केवल शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। इनका अब भी सम्बन्ध नहीं है। इनपर पदार्थोंको कल्पनासे हम अपना मान रहे कि ये मेरे हैं, बस बँध गए। इसलिए उन समस्त बाह्य पदार्थों को असार समझ कर उनकी ओर कल्पना ही नहीं जगती इस भक्तकी तो और क्या? परिजन प्रसग, विषयसेवन अथवा प्रतिष्ठा लोकेषणा आदि किसी भी प्रकारके आत्मस्वभावसे विरुद्ध परिणमन हों, ये सब भी मेरे लिए सहाय न होंगे। ये भी सब विकार है। सहाय होनेकी बात दूर जाने दो, ये सब निरन्तर इस जीवकी बरबादीके ही कारण बन रहे हैं, अन्यथा इस जीवको क्लेश क्या? किसी भी प्रकारकी विपदा नहीं है इस जीवपर। तो सब वस्तुवोंको असार जानकर किसी ओर भी कल्पना नहीं जगती।

प्रभुसेवामें आत्मसेवाका दर्शन— केवल एक यही इसमें अज की है इस भक्तने कि मेरेको तो प्राण प्रयाणके क्षणोंमे हे प्रभो, मेरा कठ आपका नाम स्मरण करनेमें रुद्ध न हो जाय। हे प्रभो! मैंने अब तक सेवा की। प्रभुसेवाके बहाने वस्तुत अपनी ही सेवाकी, क्योंकि प्रभुकी क्या सेवा करना? जो शरीर है वह प्रभु नहीं और शरीरको कोई छू भी नहीं सकता, प्रभु होने पर इस तरहसे प्रभुकी कौन सेवा करे? जैसे कोई अकिञ्चन महापुरुष हो निर्बन्धक, और जिसके द्वारा आप कुछ अपना उपकार करते हों तो भक्तजन या पुरुष कृतज्ञ होकर एक द्विविधामें पड़ जाते हैं कि मैं क्या सेवा करूँ? कुछ भी तो सेवा स्वीकार नहीं हो ही नहीं सकती। प्रभुकी परम्परासे जो एक ज्ञानमार्ग अब तक आया, ऋषि संतों की परम्परासे जो अब तक भेदविज्ञान, ज्ञानस्वभावके विशुद्धस्वरूपको जाननेका मार्ग जो आज दृष्टिमें आया है, यह जो उपकार हुआ है इस उपकारका बदला इस उपकारकी एवजमें प्रभुकी अथवा ऋषि संतोंकी क्या सेवाकी जा सकती है? सेवा एक यही मात्र है कि उनका एक ज्ञान पिण्ड में अविकार ज्ञायकस्वभावकी आराधनामे हमारा उपयोग जमे, बस इतनी मात्र उनकी सेवा है, तो क्या यह उनकी सेवा है? यह खुद अपने आपकी सेवा है।

प्रभुकी निरपेक्ष बन्धुता—प्रभु कितने निरपेक्ष बन्धु हैं? जैसे कि

आचार्यजन कहते, कविजन कहते कि हे प्रभो! आप निरपेक्ष बन्धु हैं। अन्य सब बन्धु सापेक्ष हैं किसीको कुछ इच्छा है, किसीका कैसा ही लगाव है। सबमें कोई न कोई राग मौजूद है, पर प्रभु ही एक निरपेक्ष बन्धु हैं। वीतराग होकर भी जिनकी धुन (वाणी) हमारे उपकारके लिए निकली है, वे हमारे निरपेक्ष बन्धु हैं। उनकी वाणीसे आज हम आपको जो लाभ मिल रहा है, क्या उन्होंने किसी प्राणीका लक्ष्य करके कोई अपेक्षा की थी? जैसे धनिक लोग इतनी अपेक्षा रखते हैं पदार्थोंकी कि ये पदार्थ हमको मिल जायें तो ये लोग हमारा ख्याल तो करेंगे, इस तरह की अपेक्षा ऋषी संतोंने नहीं रखी कि हमारे इन शास्त्रोंको पढ़कर लोग हमारा ख्याल करेंगे, हमारा नाम तो लेंगे। इस बातकी तो कल्पना तक भी उन आचार्यजनोंने नहीं की थी। कल्पना उठ सकती थी तो उनकी इतनी मात्र कि ये संसारके जीव देखो व्यर्थ ही भ्रममें आकर अपने स्वरूप से च्युत होकर बाह्य पदार्थोंकी ओर लग रहे हैं। बात कुछ नहीं और बतंगड़ा बना रहे हैं, केवल एक दृष्टिभेदका बात है और इतनी बड़ी विडम्बनाओंकी बना रहे हैं। यह दया तो आ सकती है अथवा यह भी दया न आयी हो, इस ओर भी विकल्प न उठा हो, एक निर्विकल्प अवस्था न रह सकी, सो विकल्प उठे, तो ज्ञानी होनेके कारण इसी ढंगके विकल्प उठे कि उस ज्ञानपुञ्जकी चर्चा करनेमें उसके कुछ लखनेमें अपना उपयोग लगायें। कैसे निरपेक्ष बन्धु हैं देव गुरु?

प्रभुसेवा और उसके अलौकिक फलकी अभ्यर्थना—महापुरुषोंकी संतों की और प्रभुकी क्याकी सेवा क्य की जा सकती है? उस सेव मे भी अपनी सेवा स्वय की जा रही है। जैसे कोई बच्चा बड़े उत्कर्षको प्राप्त हो, अच्छे ढंगसे रहे, कलावान बने, उन्नति करता है तो बाप खुश होता है। उस बापकी खुशी यह जाहिर करती है कि मानो इस बच्चेने बापकी बड़ी सेवा की तो इस तरहसे प्रभु अपने भक्तजनोंपर खुश होनेका भाव तो नहीं रखते' मगर उनका जो परम उपदेश है, उनकी परम्पराकी वाणी से जब हम अनेक पुत्रोंने लाभ उठाया तो हम उत्कर्षको प्राप्त हुए, इसमें प्रभु भी प्रसन्न हैं। वे प्रभु प्रसन्न हैं, निर्मल हैं और अपना आत्मप्रभु भी प्रसन्न है, निर्मल है। ऐसी सेवा कि जो सेवामें लीन हुए शिष्योंकी कल्प-लताके समान हो। जो इस प्रभुताकी सेवा करेगा कल्पलताकी तरह बिना परिश्रमके, बिना अभ्यासके जीवको मनोवाञ्छित समस्त तत्त्व मिलेंगे। ऐसी इस सेवाके फलमें मैं आपसे कुछ मागता हू तो यही मागता हू कि आपके नामके जो दो शब्द हैं वे मेरे कठसे निकलें तो उस समय मेरा कठ न रुंधे।

तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्तिः ॥७॥

निःसकट ज्ञानपिण्डकी शरण्यता—हे जिनेन्द्र देव ! जब तक मुझे निर्वाणकी प्राप्ति न हो तब तक आपके चरणद्वय मेरे हृदयमें विराजे और मेरा मन आपके चरणद्वयमे लीन रहे। जब हम किसीको अपने ज्ञानमें लें, उपयोगमें रखें, इसके सिवाय और कुछ कर ही नही सकते हैं तब यह विवेक रखना बहुत आवश्यक है कि हम किसको उपयोगमें लें तो हमारे सकट दूर हो सकते है ? लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसको उपयोगमें लेनेसे हमारे संकट टल सके। हमारे सकट तो खुदके सकट रहित ज्ञानस्वभावके ज्ञानसे ही टल सकते हैं। कारण यह है कि सकट तो कुछ है ही नहीं, केवल परके सम्बन्धमें जो विकल्प बनाये जा रहे हैं वही मात्र संकट हैं और उन ही विकल्पोंरूप कार्य करके हम दुःखी रहा करते हैं। तो परके सम्बन्धमें जो हम अनेक प्रकारके विकल्प बनाया करते हैं उन विकल्पोंको हटाना है अपने सकट दूर करने के लिए। ये विकल्प तब तक नहीं हट सकते जब तक विकल्परहित केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप तत्त्व को उपयोगमे न ले पायें। यह बात शत प्रतिशत यथार्थ है।

यथासभव धर्मपालनमें अभीसे ही लगनेकी अत्यावश्यकता—भैया ! बाह्य दृष्टि करके एक तो काम नहीं बनता। कोई सोचे कि चलो अभी बाह्य दृष्टि कर लें, परमें रम लें, खूब राग कर लें, खूब मोह कर लें थोडे दिनोंके बादमें इन सब बाह्य प्रसंगोंको छोड़कर केवल धर्मकार्यमें जुट जायेंगे, तो ऐसा सोचना गलत है। इस कारण किसी भी स्थितिमे हों चाहे बड़ा वैभव कमा लिया हो, चाहे कोई बड़ा ऊँचा काम कर लिया हो दुकानका अथवा किसी काम काजका और जहाँ ऐसा लगता है कि हम फंसे हुये हैं, ये काम निपटें तो हम निपट सकते हैं। चाहे कैसी भी स्थितियाँ हों, सर्व स्थितियोंसे मोहका तुरन्त त्याग करना ही भला है अन्यथा ऐसी स्थिति कभी न मिल सकेगी कि जहाँ हम आरामसे रहकर उन सब अधर्मके, पाप के मोहके कार्योंको त्याग दें और अपने आपके स्वरूपमे रम सकें। यह स्थिति परकी ओरसे हम सुविधा चाह करके प्राप्त करना चाहें तो यह बिल्कुल असम्भव है। इसी कारण जो लोग यह सोचते हैं कि हमको दो चार वर्षकी और देर है घर गृहस्थीके झंझटोंसे छूटनेमें, उसके बाद तो फिर धर्मकार्योंमें ही पूरे तौरसे लगेंगे ऐसा उनका सोचना केवल स्वप्न भर रह जाता है, अतः कर्तव्य यह है कि धर्मकी अगर रुचि हुई है तो आज जो स्थिति है और सुविधा है उसके अनुकूल अभीसे ही करने लगें और अगर अभीसे नहीं करते हैं तो समझिये कि सही मायनेमें अभी

धर्मकी धुन नहीं हुई है। अरे आगे ज्यादा धर्म कर लिया जायेगा, यह तो ठीक है पर अभी भी तो जैसी स्थिति है उसके अनुकूल धर्म करते रहना चाहिये। ऐसा तो किसीसे किया नहीं जाता और खूब धर्म आगे करें। ऐसी दृष्टि रखकर जीवनके अमूल्यक्षण व्यर्थ ही व्यतीत किए जायें और आगे के स्वप्न देखे जायें, यह तो कोई भली बात नहीं है।

वीतराग सर्वज्ञदेवकी उपासनीयता—इस लोकमें सिवाय एक अपने आत्माकी दृष्टि करनेके अन्य कोई शरण नहीं है। हाँ प्रभु जिनेन्द्र देव, वीतराग, सर्वज्ञ ज्ञानपुञ्जकी उपासना हमें इस कारण करनी चाहिये कि चूँकि प्रभुका स्वरूप, मेरा स्वरूप और प्राणि मात्र का स्वरूप सबका एक समान है, लेकिन प्रभु में वह स्वरूप व्यक्त रूप से प्रकट हो चुका है और उन्हें अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो गई है उन प्रभुके स्वरूपका स्मरण करनेसे अपने आपमें अपने स्वरूपके स्मरणसे बल मिलता है, इस कारण मेरा मेरे सिवाय यदि कोई स्मरणके लायक है, पूज्य है तो वह है एक वीतराग सर्वज्ञदेव। सो हे नाथ! जब तक मुझे निर्विकल्प समाधि नहीं प्राप्त हुई है तब तक आपके चरणकमल मेरे हृदयमें बसे रहें और निरन्तर आपका स्मरण रहे। आपके स्वरूपका स्मरण रहेगा तो हमारी रक्षा है। उसीसे हमारे समस्त दुःख दूर होंगे।

अन्त परमस्वास्थ्यकी भावना—हे प्रभो! ऐसी अवस्था हो, ऐसी निवृत्ति हो, ऐसा सग समागम हो कि जिससे वीतराग सर्वज्ञदेव के उस शुद्धस्वरूपका ध्यान रहे जिसमें रागद्वेष नहीं। भैया! विकाररहित जो ज्ञायकस्वरूप है, अपना सहजस्वरूप है उस पर दृष्टि जाय तो वह ज्ञान उस समय वीतराग है। होंगे राग, पर जैसे सिनेमाके पर्दे पर चित्र आ जाते हैं फिर भी वह पर्दा (सूतपुञ्ज) अपने आपमें उसी रूप है इसी प्रकार जब उपयोग रागद्वेष रहित ज्ञानस्वरूपपर पहुंचता है उस समय इस ज्ञानस्वभावको जानने वाला ज्ञान, उसका उपयोग, वह भी वीतराग है। होंगे रागादिक विकार, पर यह उपयोग उनका ग्रहण नहीं कर रहा। उपयोग तो अपने ज्ञानस्वरूपका ग्रहण कर रहा है। रागद्वेष रहित है, ऐसा ज्ञानस्वरूप यदि अपने उपयोगमें रहे तो फिर यहां कोई संकट नहीं और उसे भूलकर अगर उपयोग परकी ओर लग जाता है तो फिर सारे संकट आ जाते हैं। जिन योगी पुरुषोंने, बड़े तीर्थंकर चक्रवर्तियोंने सब कुछ बाह्य चीजें त्यागीं, नौकर, चाकर, भोजन, वस्त्रादिक कुछ भी उनके पास न थे, फिर भी वे अपने सहज ज्ञायकस्वरूपमें ऐसे लीन हो गए कि जहां ध्यान ध्याता ध्येयका कुछ भी अन्तर नहीं है, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयका भी भेद नहीं है। कौन जान रहा, किसे जान रहा, किसके द्वारा जान रहा, इनमें

कोई भेद न रहा, केवल एक पवित्र अनुभूतिकी स्थिति रह गई। यह एक ज्ञानस्वभाव अपनी सहज परिणतिरूप हो जाता है, इससे उनके रातदिन ऐसे गुजरते हैं, ऐसे कटते हैं कि उन्हें कुछ पता ही नहीं रहता। यहाँके लोग तो बाट देखते हैं कि अभी तो बड़ी रात है अथवा बड़ा दिन है, लेकिन अपने आपके सहजस्वरूपका लगाव, अपने सहज शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि ऐसा पवित्र काम है कि इस कामसें न तो दिन मालूम पड़ता है और न रात मालूम पड़ती है। समय यों ही गुजर जाता है। जैसे स्वर्गवासी देवताओंका सागरोंका समय यों ही गुजर जाता है। उन्हें यह ध्यान नहीं रह पाता कि यह सारा समय कैसे गुजर गया ? उनका तो जीवन गुजरता है राग और विषय साधनोंके प्रेममें और इन योगी संन्यासियोंका इतना लम्बा समय गुजर जाता है अपने आपके शुद्धस्वभाव की उपासनामें।

भैया ! करने योग्य काम तो एक यही है कि आत्मतत्त्वका परिज्ञान करें और उसमें तृप्त रहें। न करते बने तो इतनी श्रद्धा तो होनी ही चाहिये कि करने योग्य काम तो एक यही है। लोकमें दूसरा कार्य इस जीवके हितके लिए कोई नहीं पड़ा हुआ है। श्रद्धा और प्रतीति भी यदि पूरे तौरसे नहीं बन रही है तो जानकारीके बलपर उसकी चर्चा करें, उसको जिज्ञासा बनायें। कुछ थोड़ा बहुत तो समझमें आता ही है कि ऐसी जब मात्र जाननकी परिणति होती है तो जीवको कोई सकट नहीं आता। बाह्यपदार्थोंका संयोग क्षणमात्रका है। एक दिनका भी भरोसा नहीं है, ऐसे विनाशीक क्षणिक बाह्यपदार्थोंमें स्नेह करनेसे, मोह बुद्धिसे इस कुदृष्टिका, अज्ञानका ऐसा सिलसिला चल उठेगा कि फिर हम अपने आत्मस्वरूपकी चर्चाके लायक भी न रह सकेंगे। इस कारण यह बड़ी सम्भाल वाली स्थिति है। हम उस ज्ञानस्वरूपकी चर्चा करें, उस ज्ञानस्वरूप की चर्चामें अपनी प्रतीति बनायें। इस ज्ञानस्वरूपकी चर्चा प्रीतिपूर्वक कोई सुने तो वह नियमसे भव्य है। ऐसा आचार्योंका बड़े घोषके साथ कथन है। इस चर्चाके माध्यमसे अपने आपके भीतर अन्तरङ्गमें इस ज्ञानस्वरूपके दर्शनका प्रयास जो करता है वह नियमसे भव्य है। कर्मोदय भव-भवमें आ रहे हैं और उन कर्मोदयोंका विचित्र परिणमन चल रहा है, कैसी-कैसी भावनायें बदलती हैं, किस किस तरहसे परकी ओर हमारा ख्याल बढ़ता है, ये सारी बातें होकर भी घबड़ाहट नहीं है, क्योंकि जान लिया है कि मेरे आत्माका ज्ञानस्वरूप सहज शुद्ध है और वही मात्र और आखिर वही प्रकट हो करके रहेगा। ये बाहरी कलंक, बाहरी दृष्टियां, बाहरी बन्धन कर्म और शरीरका सयोग ये कब तक परेशान करेंगे ? ये

तो पर चीजें हैं। पर हैं इसलिए ये नियमसे छूट कर रहेंगे, ऐसी भीतरमें ज्ञानकी भावना है और अपने आपको बड़ी दृढ़ श्रद्धासे यों तक रहा है कि मैं तो केवलज्ञानस्वरूप हू। विकारोंसे न्यारा, कर्मोंसे न्यारा, शरीरसे न्यारा, बाह्य समस्त समागमोंसे न्यारा अमूर्त केवलज्ञानरूप मैं हू। इस ओर जिसका लगाव लग गया और 'यही मैं हू' ऐसा मान कर रह गया उसको संसारके संकट फिर नहीं सता सकते। तो यही स्वरूप है प्रभुका, इसलिए प्रभुसे अभ्यर्थना की जा रही है कि हे प्रभो! जब तक मेरी निर्विकल्प स्थिति न बने, जब तक मोक्षकी प्राप्ति न हो तब तक आपके दोनों चरण मेरे हृदयमें रहें। मेरा हृदय आपके चरणोंमें रहे। यहाँ चरणोंसे मतलब औदारिक शरीरके उस अग पर न ले जायें और हृदयसे मतलब द्रव्य, मन, शरीर रचना, इस पर न ले जायें, किन्तु दो चरण क्या हैं प्रभु के? प्रभुके वे दो चरण हैं ज्ञान और दर्शन। उन चरणोंका तो मेरे ज्ञानमें निवास रहे। हृदयका मतलब ज्ञानका है। चूँकि रुचिपूर्वक मुझे उन चरणोंको अपने ज्ञानमें रखना है इस कारण हृदय कह करके वर्णन किया है। क्योंकि लोकप्रसिद्धि है यह कि हृदयका सम्बन्ध है प्रेमसे और दिमाग का सम्बन्ध है ज्ञानसे। तो रुचिपूर्वक प्रभुके दोनों चरण मेरे ज्ञानमें रहें, इस स्थितिके लायक ही तो मैं हू इसलिए यही चाह सकता हू। तो उस ज्ञानसे यहाँ हृदयकी उपमा दी है और चरणद्वयकी उपमा इस ज्ञानदर्शनसे दी है। हे ज्ञानपुञ्ज प्रभु! आपका सहज ज्ञान, सहज दर्शन मेरे उपयोग में निवास करे और मेरा उपयोग आपके सहज ज्ञान और सहज दर्शनमे बना रहे, यही मात्र मैं चाहता हू और कुछ मेरी वाञ्छा नहीं है।

एकापि समर्थय जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितु दातुं मुक्तिश्रियं कृतिन ॥८॥

दुर्गतिनिवारण पुण्यपूरण व मुक्तिश्रीदानमे जिन भक्तिका सामर्थ्य—यह एक जिनभक्ति दुर्गतिका निवारण करनेके लिए समर्थ है, पुण्यको पूरनेके लिए समर्थ है और जीवोंको मुक्तिश्री देनेके लिए समर्थ है। जिन भक्तिमें जिनेन्द्रके स्वरूपको निहारकर, स्वरूपका अनुराग किया जाता है और वह स्वरूप है वीतरागता। रागद्वेषरहित केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप उस चैतन्य महाप्रभुकी उपासनामें इसका उपयोग उपयोगके स्रोतभूत ज्ञानस्वभावकी उपासना कराता है। इस कारण उसमें ये सब सामर्थ्य है और जिनभक्तिमें वैराग्यका भी समावेश है, अनुरागका भी समावेश है, है, इस कारण उसमें इन तीन बातोंकी कारणता पायी जाती है।

नारकियोंकी गतिका दुर्गतिपना—जिन-भक्ति दुर्गतिका निवारण करने में समर्थ है। दुर्गतिया हैं—नरकगति, तिर्यञ्चगति और खोटा मनुष्य

होना। (यह पुण्य पापके हिसाबसे बात कही जा रही है) वैसे तो चारों गतियाँ दुर्गतियां हैं। गतियां जीवके स्वरूपकी बात नहीं हैं, जहाँ पुण्य का उदय नहीं आता, पापका उदय विशेष रहता है ऐसी बातें हैं नरकगति मे। नरकगतिमें पूरा ही पापका उदय है। जहाँ नय विभागसे नरकका वर्णन किया गया है धवल ग्रन्थमें वहाँ दृष्टियोंकी अपेक्षासे जो नरकमें उत्पन्न हों वे तो नारकी स्पष्ट हैं किन्तु नरकगतिके योग्य भावोंको कर रहे मनुष्य भी नारकी हैं और लोकव्यवहारमें भी इसी नयके अवलम्बनसे ऐसा कहते हैं कि यह मनुष्य है कि नारकी। जो लड़ता विशेष हो, क्रोधी हो, प्रचण्ड हो, बैरको न छोड़े, किसी की भलाई न सोचे, सबको बुरा ही सोचा करे, ऐसे मनुष्यको नारकी कहते हैं। तो नरकगतिके योग्य भावोंसे भी नारकी संज्ञा दी गई है तो फिर उस भावका फल जहां प्राप्त होता है उस नरक गतिकी दुर्दशाका कौन वर्णन कर सकता है?

नरकगतिके प्रकृति दुःख—नरकगतिकी पृथ्वीको छूनेसे ही ऐसा कठिन दुःख होता है जो हजारों बिच्छुवोंके काटने पर भी नहीं होता। यह बात गलत नहीं है किन्तु अनुमान प्रमाणसे भी सिद्ध है। जब कभी यहाँ बिजलीका करेन्ट भींतमें आ जाता है तो उसमें कोई हाथ लगाये तो बिच्छूके काटने जैसी पीड़ा होती है तो यह बिजली क्या है, पृथ्वी क्या है? यह स्थावर काय ही तो है। और स्थावर काय वहाँ पाये जाते हैं यहाँ लोग बिजली बनाकर तैयार करते हैं, पर कहीं बिना तैयार किए भी ऐसी बिजली हो सकती है कि नहीं? हो सकती है। तो इस तरहकी बिजली जैसे स्कंध वहाँ पड़े हुए हैं जिस कारण जमीनके छूनेसे इतना क्लेश होता है कि हजारों बिच्छुओं के काटने से भी उतना दुःख नहीं होता। नारकियों का वैक्रियक शरीर होता है, शरीरकी उत्पत्ति माता-पिता से नहीं होती है। वैक्रियक शरीर तो ऐसा होता है कि जिसमें हाड़-मांस, मज्जा नहीं। लेकिन इतना असुहावना, खोटा, वैक्रियक शरीर उन नारकियोंका है कि जिसका कुछ कहना नहीं बनता, जिनकी उत्पत्ति भी बड़ी कठोर है। जहाँ से वे नारकी गिरते हैं। जमीनमें जो एक पोल है, कई जगह, लाखों जगह पोल हैं उन नरकोंकी जमीनमें। और वह पोल है करोड़ों कोशोंकी लम्बी चौड़ी। कई पोल तो अनगिनते कोशोंके लम्बे चौड़े हैं। तो ऊपरसे वे नारकी गिरते हैं तो नीचे सिर और ऊपर पैर होते हैं। तो जिनका उत्पत्ति स्थान ही बड़ा बेढंगा बना हुआ है, जहाँ प्रारम्भ से ही पाप पिशा--चिनी का आतंक छाया हुआ है वहाँ पर वह वैक्रियक शरीर गिरता है और जमीन पर गिरते ही गेंद की तरह उछलता है।

नरकोंमे दुःखहेतु कुकृत्यकी याद—नरकोंमें याद आती है कि जिस

कुटुम्बके कारण अनेक पाप किए, जिन थोड़ी वासनाओंके वशीभूत होकर अनेक पाप किए उनका फल यहाँ इतना कठोर भोगना पड़ता है। यह ख्याल भी ऐसे नारकियोंको आता है जिनका भवितव्य अच्छा है। सभी नारकियों को इस तरहका ख्याल नहीं आता। उनका उपयोग तो इस ओर जाये। कि इसने पूर्वजन्ममें मेरे साथ यों बरताव किया। मनुष्य भवमें चाहे माने अपने बच्चेकी आँखोंमें अञ्जन लगाया हो, पर नरकोंमें जब वे दोनों जीव होंगे तो उस बच्चेका जीव वहां ऐसा ही ख्याल बनायेगा कि इस ने सलाईसे मेरी आँखें फोड़ी थीं। इस प्रकारका वैर विरोधका भाव करके एक नारकी जीव दूसरे नारकी जीव पर इस तरहसे टूट पड़ता है कि तिल तिल बराबर देहके खण्ड कर डालता है। इस तरहकी दुर्गतियाँ सहनी पड़ती हैं नरकोंमें।

नारकियोंका विक्रिया सम्बन्धित दुःख—उन नारकियोंमें ऐसी विक्रिया ऋद्धि होती है कि वे जब किसी दूसरे नारकी को मारने के लिए हाथ उठायेंगे तो उनके वे हाथ ही तलवार, कुल्हाडी आदि बन जाते हैं। उनको अलगसे शस्त्र नहीं लेने पडते। इतने पर भी जब उनका मन न भरा तो वे विक्रियासे, सिंह, सर्प आदि हिंसक पशु बनकर उस जीवको डसकर, खाकर बड़ी बुरी तरहसे वेदनायें देते हैं। किसी नारकीको कोल्हूसे पेलना है तो वे स्वय ही कोल्हूका रूप रख लेते और उस दूसरे नारकीको कोल्हूमें पेल देते। इसी तरहसे अग्नि आदिक बनकर दूसरे नारकियोंको उस अग्नि आदिकमें पटककर दुःखी किया करते हैं और यह बात किसी समय हो जाय सो नहीं कि चलो दिन भरमें किसी समय कोई नारकी ने दुःखी कर दिया तो चलो बाकी समय तो उस दुःखसे बचे। यह बात तो वहाँ निरन्तर चलती रहती है। उन नारकियोंमें कोई ऐसी गोष्ठी तो है नहीं कि चलो, यह तो हमारा मित्र है इसे अब पीडा न दो। वे तो सब एक दूसरेके दुश्मन हैं, इसी कारण वहा क्षण भर भी साता नहीं है। यह तो उनका दुःख है।

असुरजातिके देवों द्वारा नारकियोंके क्रोध उभारनेका दुःख—उक्त वेदनाओं के अतिरिक्त साथ ही यह भी दुःख लगा है कि उनका क्रोध क्षणभर को भी शान्त नहीं होता। जैसे यहा किसीको क्रोध आता है तो उसका कुछ समय बाद क्रोध शान्त हो जाता है, लेकिन वहाँ असुर जातिके नारकी तीसरे नरक तक जाते हैं और उन नारकियोंको ऐसी याद दिलाते हैं कि क्रोध शान्त होता हो तो शान्त न होने दे। खुद लड़ बैठते हैं। उन असुर जातिके देवोंका उदय पुण्यका है विशेषतया कि वे नरकमें रहकर भी वहाँ की भूमिसे दुःख नहीं पाते, जैसे कि अन्य नारकी हजार बिच्छुवों

के डसने से भी अधिक दु ख पाते हैं। जैसे यहां कोई काठ पर खड़ा होकर बिजली फैली हुई भींतको छुवे तो उसे करेन्ट नहीं लगता, इसी तरहसे उन असुर जातिके देवोंको वहांकी भूमिसे वेदना नहीं मिलती। उनकी विक्रियामे दूसरी तरहकी योग्यता है।

नरकोंमे भूख प्यासकी कठिन वेदना—और भी देखिये—उन नरकोंमें इतनी तेज गर्मी पड़ती है कि वहां मेरु बराबर लोहपिण्ड भी हो तो वह गल जायेगा और नीचे के नरकोंमें इतनी ठंड पडती है कि मेरु बराबर लोहा हो तो वह भी छार छार हो जायेगा। गर्मीसे भी अधिक दु.ख होता है ठंडके दिनोंमें। जब तेज ठंड पड़ती है तब याद आता है इस मनुष्यको कि इससे तो गर्मी भली है और जब गर्मी आती है तब यह कहते हैं कि इससे तो ठंड अच्छी है। यह तो इस जीवकी पर्यायबुद्धिकी बात है। जिस दु खमे यह जीव पहुचता है वही इसे सहन नहीं होता। जैसे किसी मनुष्यको खूब खांसी आती है तो वह हैरान होकर कह उठता है कि इस खांसीसे यो बुखार भला है। बुखार आने पर भला एक जगह पड़े तो रहते है। तो पर्यायबुद्धि होनेके कारण इस जीव पर जब जो बात आती है उससे ही वह बड़ी विपदाका अनुभव करता है। कोई मनुष्य बडे आराम में है, खूब अच्छी आमदनी भी है, किसी प्रकारका दु ख नहीं है लेकिन किसी-किसी समय वह दुःखी होकर कह बैठता है कि इससे तो गरीबी अच्छी है। मैं तो इस धनसे परेशान हो गया और गरीबोंकी बात सुनो तो गरीब तो रात दिन सोचा करते हैं कि हमारे कितना पापका उदय है कि बडी कठिनाईसे हमारी जिन्दगी गुजरती है। उन गरीबोंको ये दिखने वाले धनिक लोग बडे साफ सुथरे दिखाई देते हैं, बडे खुश दिखाई देते है लेकिन वे धनिक लोग कितनी कितनी परेशानियों में हैं इसे बेचारे गरीब लोग क्या समझें? तो पर्यायबुद्धिमें जीव जहाँ जाता है। जिस स्थितिमें रहता है उसमें अपनेको वह बडा दुःखी अनुभव करता है। क्या यह पाप का उदय नहीं है? तो सभी दु ख पापोदयसे होते है। नरकोंमें उष्ण और शीतकी भी कठिन बाधा रहती है।

ज्ञानभावकी दृष्टि न होनेका कुफल—ज्ञानभावकी दृष्टि न हो सकना यह महापापका उदय है। शान्ति मिलती है जीवको तो एक ज्ञानभाव की दृष्टिमें मिलती है और कितने ही उपाय कर लिए जायें, पर उनसे शान्ति नहीं मिलती। इस अन्तस्तत्त्वकी उपासना न होनेसे नरकोंमे उत्पन्न होकर दु सह दुःख भोगने पड़ते हैं। तो नरकों में कितनी कठिन दुर्गति है? वहा की लड़ाईका दु ख, वहांकी जमीनका दुःख, वहांके वातावरणका दु ख, उनके स्वयके वैक्रियक शरीरका दुःख। उन नारकियोंका

अत्यन्त छोटा वैक्रियक शरीर है। वहां पर रात दिन तो हैं ही नहीं। स्वर्गोंमें भी रात दिन नहीं, ढाई द्वीपके बाहर भी रात दिन नहीं, बाहर जहां सूर्य है केवल ढाई द्वीपके अन्दर ही जहां चन्द्र सूर्य प्रदक्षिणा देते हैं वहां रात दिनका व्यवहार है। वहां कल्पवृक्षकी सदा ज्योति बनी रहती है।

नरकोंमें भूख प्यासका महाक्लेश— नरकोंमें भूख प्यासकी बड़ी तीव्र वेदनायें हैं। उन नारकियोंको भूख इतनी लगती है कि दुनियाका सारा अनाज खा लें फिर भी भूख न जाय, और प्यास इतनी होती है कि दुनियाके सारे समुद्रोंका जल पी लें तो भी प्यास न बुझे, पर वहां पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। भूख और प्यास इन दोनोंके दुःखोंमें इतना अन्तर है कि भूख तो दो तरहकी होती है तीव्र और मंद और प्यास होती है चार प्रकारकी मंद, मंदतर, तीव्र और तीव्रतर। इससे ही यह अंदाज लगालें कि प्यासकी वेदना भूखकी वेदनासे कठिन होती है। जो लोग कभी भूखसे ही मर जाते हैं, जिन गरीबोंको कुछ नहीं मिलता है, भूखे ही बने रहते हैं, तो लोग तो यह कहते हैं कि यह भूखसे मरा, पर यह तो बताओ कि उस भूखे रहने वालेमें क्या प्यास बिल्कुल नहीं है? अरे भूखसे अधिक वहां प्यास है। किसीको भूख लगी हो तो उस भूखको वह ६ घंटे तक बरदास्त कर सकता है, १२ घंटे तक भी बरदास्त कर सकता है, पर खूब तेज प्यास लगी हो तो वह एक घंटा भी उस प्यासको वेदनाको सहन नहीं कर सकता। भूखका दुःख मंदतर कभी नहीं होता है और प्यासका दुःख मंदतर भी हो जाता है। रंच मात्र भी प्यास लगी हो तो यह जीव झट महसूस कर लेता कि मुझे प्यास लगी है, मगर रंचमात्र भूख हो तो वह महसूस नहीं होती। तो इस प्रकारकी भूख प्यास की बड़ी कठिन वेदनायें उन नारकियोंमें निरन्तर रहती हैं। यह उनके शरीरका दुःख है।

दुःसह दुःखोंके भी निवारणमें जिनभक्तिका सामर्थ्य—कठिनसे भी कठिन से भी कठिन दुःख जहां पाये जाते हैं उनके निवारण करनेमें हे प्रभो! आपकी भक्ति समर्थ है। प्रभुभक्तिसे तुरन्त भी मिलता है कुछ और परलोकके लिए तो सारा लाभ ही लाभ है। कुटुम्बीजनोंकी भक्तिसे मित्रजनों की भक्तिसे, उनके प्रेमसे, उनके अनुरागसे तो लाभ कुछ भी नहीं मिलता, बल्कि वेदना तुरन्त मिल जाती है और आगेके लिए पापबंध हो जाता है जिसके फलमें परभवमें भी वेदनायें प्राप्त होंगी। अब आप यह देख लीजिए कि हमारा प्रभुभक्तिमें कितना समय जाता है और परिजन, मित्रजनोंकी भक्तिमें कितना समय जाता है? प्रभुभक्ति केवल मंदिरकी चीज नहीं है।

प्रभुभक्ति तो किसी भी जगह कर ली जाय। जहां भी अरहंतसिद्धका ध्यान हो, जहां भी सकल परमात्मा, निकल परमात्माका ध्यान जगे वहीं प्रभु-दर्शन होंगे। जहां प्रभुस्वरूपका और आत्मस्वरूपका दर्शन हुआ, भक्ति हुई, भजन हुई, वहीं प्रभुभक्ति है।

स्वका ज्ञान करनेके उत्सुक जीवोंको आत्मज्ञानके लाभकी अवश्यभाविता— प्रभुभक्ति क्या हर जगह की नहीं जा सकती। ज्ञान ही तो है। जब ज्ञान परवस्तुवोंके जाननेमें लगा है तो परवस्तुवोंको क्या यह जान नहीं पाता? खूब जान रहा है। आँखें खोलीं तो बैन्च, खम्बा, चौकी आदि सब कुछ दिख गए और उनकी जानकारी हो गई। ज्ञान इन वस्तुवोंके अभिमुख हो तो उन वस्तुवोंको जानकारीमें आना पडेगा। प्रत्येक पदार्थमें ५ साधारण गुण जरूर हैं जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, इसी प्रकार साधारण गुण प्रमेयत्व भी तो उसमें नियमित है। तो ज्ञान जिस किसी भी पदार्थके अभिमुख हो उस पदार्थको ज्ञेय होना ही पडता है और इस ज्ञानमें वह चीज आनी ही पड़ती है। उस समय ज्ञान भी मना नहीं कर सकता कि मुझमें यह चीज मत आये। ज्ञेय भी मना नहीं कर सकता कि मैं इस ज्ञानमें न आऊँ। हम आप कोई भी जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय इस ज्ञानस्वभाव अन्तरतत्त्वके अभिमुख हो तो जानना पडेगा और उसे जाननेमें आना पडेगा। लेकिन हमीं इतने प्रमादी बने हुए हैं कि प्रभुभक्तिमें लगना नहीं चाहते। अगर लगना चाहें और उसका स्वरूप जानना चाहें तो हमारी प्रभुभक्ति ज्ञानस्वरूप, ये सब हो ही जायेंगे। तो जिसको इतना भी डर हो कि बाहरी पदार्थों मे किसीमें भी दृष्टि लगाये, उपयोग फसाये तो उसमें सिवाय कर्म बन्धनके और तात्कालिक आकुलताके उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता है। इतना जिसे विश्वास हो, ऐसा पुरुष जब चाहे प्रभुभक्तिमे अपना उपयोग लगा सकता है। तो उस प्रभुभक्तिमें ऐसी सामार्थ्य है कि ऐसी नरकादि दुर्गतियोंका निवारण कर दे।

तिर्यञ्चगतिके दुःख—नरकगतिके वर्णनके बाद अब तिर्यञ्च गतिके दुःख देखिये। सभी लोग जानते हैं स्थावरोंका दुःख, उनके हाथ पैर नहीं हैं, वे किसी तरहसे अपने दुःखका संकेत जाहिर नहीं कर सकते कि मुझे मत छेड़ो मत, तोड़ो। छोटे-छोटे कीडे मकौड़ोंको कोई जरा भी छू ले तो वे तिलमिला जाते हैं, मानो उस तिलमिलाहटमें वे यह संकेत कर रहे हैं कि तुम जैसे प्राणी हम भी हैं हमें मत छेडो। वे वेचारे संकेत कर सकने मे असमर्थ हैं। स्थावर जीवोंमे देखो—कोई जब भी चाहे फल, फूल, डाली आदिक तोड़ ले, जब चाहे कोई उन्हें नोचनाच कर फेंक दे, चाहे

अग्निमें जला दे, चाहे कुछ भी करदे, पर वे स्थावर ऐसे निश्चेष्ट हैं कि कुछ भी संकेत नहीं कर सकते। जो सैनी पञ्चेन्द्रिय हैं वे भी कितने पराधीन हैं। झोंटेको किसी खूँटेमें बाध दिया, अब मालिक की म०ीं है कि वह उस झोंटेको धूपसे बचा दे। बड़ी तेज धूप पड़ रही है, वह झोंटा तड़फ रहा है, प्यासकी वेदनासे भी पीड़ित हो रहा है, फिर भी उस झोंटेको पूछने वाला कोई नहीं है। इतना बलवान जीव कि ५०-६० मनका बोझा ढो दे, मनुष्योंमे आज इतना बल कहा रखा है, लेकिन वह जीव एक जरासी नथेलमें, जरासी डोरीके बन्धनमें इतना परतन्त्र है यह कि कुछ कर नहीं सकता। यह मनुष्य ऐसे बन्धनमें पड जाय तो वह क्या किसमिसायेगा नहीं ? जरूर किसमिसायेगा तो क्या वह झोंटा उस समय किसमिसाता न होगा ? क्या वह अपने मालिक पर क्रुद्ध न होता होगा ? जरूर क्रुद्ध होता होगा। ऐसी हालतमें कदाचित मालिक आये और उस झोंटेका बन्धन टूट जाय, उसका क्रोध न उतरे तो वह अपने मालिकको उसी जगह मार डाल सकता है। मगर एक जरासी दो आनेकी रस्सीमें ऐसा परतन्त्र पड़ा हुआ है कि उसके दु खको कौन कह सके ?

तिर्यञ्चगतिके क्रूरतापूर्ण बधसम्बन्धी दु ख--उक्त प्रकार तिर्यञ्चगतिमें साधारण स्थितिके दु ख बताये। अब बधबन्धनके दु ख देखिये—इतना तेज गरम जल जिसको मनुष्यजन सह नहीं सकते ऐसे खौलते हुए पानी को फव्वारोंसे उन गाय, बछडों पर डालते हैं ताकि उनकी चमड़ी फूल जाय और फिर बैंतोंसे मारते हैं और मारमारकर चमड़ी उतारते हैं ताकि वह चमड़ी नरम बनी रहे और अधिक कीमतकी बिके। तो ऐसे कठिन दु ख उन पशुओंको सहन करने पड़ते हैं। कोई विवेकी पुरुष हो तो इन घटनाओंको जानकर यह निर्णय कर लेगा कि मुझे चमडेका रचमात्र भी किसी कामके लिए प्रयोग नहीं करना है। रहा अब मरे हुए पशुवोंका चमड़ा, जो स्वय मर गए हैं; जिन्हें कसाियोंने नहीं मारा है। उनका भी प्रयोग हम इसलिए न करें कि वे फालतू बने रहेंगे तो दूसरे लोग उनका प्रयोग करेंगे, मारे जाने वाले पशुवोंके चमडेका प्रयोग कम हो जायेगा। लोग इन स्वय मृतक पशुओंके चमड़ेका प्रयोग कर लेंगे, मृतक चमडेके जूते रहेंगे तो वे फालतू हो जायेंगे, सस्ते रहनेके कारण लोग उनका अधिक प्रयोग कर लेंगे, तो बुरी तरहसे मारे हुए पशुवोंके चमड़ेका प्रयोग कम हो जायेगा। किसी भी तरह हो, विवेकी पुरुष चमडेका प्रयोग रच मात्र भी न करेंगे। तो तिर्यञ्चोंके इस तरहके दु ख हैं।

कुमानुषके दु ख और दु खनिवृत्ति पुण्यपूर्ति व मुक्तिके दानमे जिनभक्तिकी समर्थता--खोटे मनुष्योंके दु ख देखिये-कोढ़ी, लंगडे, लूले, अनेक प्रकार

के रोगोंसे ग्रस्त, नीच कुलीन, महा झगड़ेलू, एक दूसरेकी जान लेनेको तैयार रहने वाले, आदि इस प्रकारके जो मनुष्य हैं वे क्या दुर्गतिमें नहीं है? वे तो नामके लिए मनुष्य हैं। ऐसे ऐसे कठिन दुर्गतियोंका निवारण करने के लिए हे प्रभो! आपकी एक यह भक्ति समर्थ है और पुण्यको पूरने के लिए हे जिनेन्द्रदेव! आपकी भक्ति समर्थ है। तो इस लोकमें जिन-भक्तिसे पुण्यरस बढ़ा, दुर्गति कटी, पर साथ ही साथ यह भी समझिये कि जिनभक्तिमें एक अविकार ज्ञानस्वरूपकी ही तो भक्ति की जा रही है। ज्ञानस्वरूपपर जो दृष्टि की गई है और उससे केवल एक सहजज्ञान उपयोग उपयोगमें रह गया है, उस समय ज्ञान ने ज्ञानको स्वीकार किया, ज्ञान ज्ञानमें लीन हुआ, तो इस स्थितिमें निर्जरा भी होती है और कर्मकी निर्जरा होना यही मोक्षका मार्ग है। संवर भी होता है तो मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करानेमें कुछ कारण हुई कि नहीं यह जिनभक्ति? एक ही यह जिन-भक्ति दुर्गतिका निवारण करनेके लिए समर्थ है और पुण्यसे पूरित करने के लिए समर्थ है और इन भव्य जीवोंकी मुक्ति लक्ष्मी को भी देनेमें समर्थ है। समाधिभक्त संत निर्विकल्प समाधिकी भक्तिमें अधिक समय लगाते हैं और जब कर्मविपाकवश उस समाधिभक्ति में उपयोग नहीं जम रहा तो उस समाधिभक्ति के लिए ही प्रभुभक्ति कर रहे हैं और प्रभुभक्ति के गुण गा रहे हैं कि एक इस प्रभुभक्ति में तीन महात्म्य हैं एक तो-दुर्गति का निवारण करना, दूसरा पुण्यको पूरना और तीसरा मुक्तिश्रीका देना।

पंच अरिंजय णामे पंच य मदिसायरे जिणे वंदे।
पंच जसोयरणामे पंच य सीमंदरे वंदे॥६॥

समाधिभक्तका रत्नत्रयधर्मवन्दन— समाधिभक्त पुरुष समाधिका अभेदभावरूप अथवा समाधिभावना कारणभूत जो रत्नत्रय है उसको दृष्टिमें लेकर कह रहा है कि मैं रत्नत्रयको नमस्कार करता हूं। रत्नत्रयका अर्थ है—तीन श्रेष्ठ तत्त्व। रत्नका नाम पत्थर मणि आदिक नहीं है, किन्तु जो जिस जातिमें श्रेष्ठ है वह उसमें रत्न कहलाता है। जहां नररत्न कहा तो उसका अर्थ है मनुष्योंमें श्रेष्ठ। जहां मणि रत्न कहा तो उसका अर्थ होता है मणियोंमें श्रेष्ठ, जहां धर्मरत्न कहा वहां अर्थ होता है श्रेष्ठ धर्म। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप जो श्रेष्ठ धर्म है उसको मैं नमस्कार करता हूं। धर्म कहते हैं उसे जो जीवोंको संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तमसुखमें धारण कराये। ऐसा कौनसा तत्त्व है जो जीवको संकटोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें धारण करा दे। अभेदभावसे देखो तो जीवमें है एक ज्ञानभाव और ज्ञानका ही नाम है सम्यग्दर्शन, ज्ञान ही

का नाम है सम्यग्ज्ञान और ज्ञान ही का नाम है सम्यक्चारित्र। जब यह ज्ञान जीवादिक ७ तत्त्वोंके श्रद्धान स्वभावरूपसे वर्तता है तो इसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान। जब यह ज्ञान जीवादिक तत्त्वोंके जाननरूपमें वर्तता है तब उसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान। जब इसका ज्ञान ज्ञानरूपसे अर्थात् रागादिक विकारके परिहारके स्वभावरूपसे वर्तता है तब इसे कहते हैं सम्यक्चारित्र तो ऐसा यह धर्म एक अपने ज्ञानपर निर्भर है ऐसे ज्ञानस्वरूप रत्नत्रयधर्म को यह वन्दना करता है।

निजकी ज्ञानमात्र सर्वस्वताका अवलोकन— इस ज्ञान द्वारा ही हम सब कुछ अनुभवते हैं, संसारमें रुलकर इतने संकटोंको सहते हैं। उसमें भी यह ज्ञान अपनी कला कर रहा है। संसार संकटोंसे छूट कर मुक्ति सुखमें पँहुचता है तो वहाँ भी यह ज्ञान अपनी कला कर रहा है। ज्ञानके सिवाय मेरा और कुछ धन नहीं और कुछ स्वरूप नहीं। यह मैं अकिञ्चन हूं, ज्ञान-मात्र हूं, इस प्रकारकी निगाहमें हमारा सब कल्याण भरा हुआ है। संसार के संकटोंसे छूटनेके लिए क्या प्रयत्न करना है? वह प्रयत्न यही करना है कि अपने आपको अकिञ्चन, ज्ञानमात्र अनुभव कर ले। मुक्ति जब मिलेगी तब, लेकिन इसी भवमें आप स्वको अकिञ्चन ज्ञानमात्र अनुभव कर लेंगे तो आप ऐसा अनुभवेंगे अपनेको कि लो मैं संकटोंसे तो अभी छूट गया। कहाँ हैं संकट? जब अपने आपको अकिञ्चन निरखा, मेरा कुछ नहीं। मेरेमें अन्य कुछ नहीं, मैं जो इस देहदेवालयमें अमूर्त चैतन्यस्वरूप विराज-मान हूं वह तो चेतनमात्र है। उसका लोकमें क्या है? है ना यह आत्मा अकिञ्चन। भ्रम लगा लें और जितना चाहे कीचड़ अपने स्वरूपमें लपेट लें, यह एक मोहियोंकी बात है। परतत्त्वोंके लपेटने पर भी बाह्य पदार्थों से, परतत्त्वोंसे फिर भी यह जीवस्वरूप न्यारा है। मैं ज्ञानमात्र अकि-ञ्चन हूं। एक परमाणुमात्र भी तो मेरा यहाँ कुछ नहीं है। खूब निरख लो, अपने आपमें जितना अपना स्वरूप है उस स्वरूप पर दृष्टि देकर खब परख लीजिये कि मेरा मेरे ज्ञानमात्रके सिवाय अन्य कुछ भी स्वरूप है क्या? देह भी मैं नहीं। अन्य की तो बात जाने दो।

जीवविभाव और देहका निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी दोनोंका स्वातन्त्र्य व परस्पर अनधिकार—जब तक देह साथ है तब तक भी जो हम चाहें सो देहकी बात बने, यह नहीं हो पाता। यह जीव क्या चाहता है कि मेरा शरीर निरोग रहे, किन्तु देहमें रोग आ ही जाते हैं। निमित्तनैमि-त्तिकभाव देह और जीवके बीच है, फिर भी अधिकार रंच नहीं। साथ यह भी निरखते जाइये कि जो यह देह रोगी बनता है वह भी जीवकी गल्तीसे बनता है। और यह भी निरखते जाइये कि इस देहपर जीवका कुछ

अधिकार नहीं है, आपको उपादानदृष्टि और निमित्तदृष्टि दोनों ही निगरानीमें आते जायेंगे। जीव गलती करता है, जो स्वाद जंचा, राग जचा, उसके भक्षणमें लालायित रहता है और जहां रसना इन्द्रियका स्वाद नहीं जीता जा सकता तो साथ ही साथ अन्य विकल्प भी चलते हैं, तो जब यह जीव अपनी जिह्वाको न जीत सका, एकाशन न करे, कभी उपवास न करे तो उसके प्रायः रोग आजाते हैं। अधिकतर आपके शरीर के रोग, यद्यपि शरीर परद्रव्य है फिर भी, आपके बलपर बहुत कुछ निर्भर है। रोग आता है तो आप उसे तीन चार दिनमें भी दूर कर सकते हैं, नहीं तो महीनों भी गुजर सकते हैं। जब देह काम नहीं दे रहा है तो उस समय इस बिगड़े देहको १—२ दिनके लिए भोजन पान की छुट्टी कर देनी चाहिए। बहुत कुछ निर्भर यद्यपि जीवके भाव पर है निमित्तनैमित्तिक दृष्टिसे, लेकिन कभी कर्मका तीव्र उदय आ जाय तो जीवका भाव कुछ नहीं कर सकता। कितना ही संयमसे हों, सब कुछ छोड़ भी दिया है, लेकिन जब कर्मोंका तीव्र उदय आता है तो बड़े-बड़े महापुरुषोंको कुष्ट हो जाय, भस्मव्याधि हो जाय, अनेक तरहके रोग आ सकते हैं। तो देखिये जीवका इस देहपर अधिकार नहीं। जब पुण्यका उदय है, पापका उदय कम है, भले ही जीवके भावोंके अनुसार इस जीवकी गति हो रही है तब भी शरीर पर जीवका अधिकार नहीं और कभी भी शरीर पर जीवका अधिकार नहीं। मेल हो गया, योग बन गया, तो जब हमारा देह तक पर भी अधिकार नहीं, फिर प्रकट पर क्षेत्रस्थ पदार्थोंकी तो कथा ही क्या है ? देखो देह पर अधिकार होता तो बुढ़ापा आने पर अथवा किसी रोगसे पीड़ित होकर मरण होते समय मरणसे बचा लिया जाता, किन्तु ऐसा कहां किया जा सकता है ? मृत्यु तो होती ही है। देहको छोड़कर जाना पड़ता है। अब निरख लीजिए कि देह मेरा कुछ नहीं है, जैसे दूसरे जीव के शरीर मेरे कुछ नहीं लगते इसी तरह मेरा भी यह शरीर मेरा कुछ नहीं लगता। मैं इस देहसे अत्यन्त निराला ज्ञानस्वरूप हूं। यह तो मेरे अविज्ञानकी स्थिति है।

अपने विकारपरिणमनसे भी आत्माका पार्थक्य—भैया ! देहकी भी बात क्या कहें ? जो भाव मुझमें उत्पन्न होते हैं—रागद्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ आदिक, ये भाव भी मेरे नहीं हैं। इन पर भी मेरा वश नहीं चल रहा है। हमारा वश तो इतना ही चल सकता है कि इनको उपयोगमें न लें। उपयोगमें न रखने से इन निमित्तनैमित्तिक भावोंके प्रसंगमें ये कषायें ये विकार अत्यन्त शिथिल होंगे, मंद होंगे और कुछ समय बाद ये अपने आप ही मिट जायेंगे। ये सब बातें इसकी हो जायेंगी, लेकिन इन पर भी

मेरा अधिकार नहीं। मेरा अधिकार केवल मेरे ज्ञानभावपर है। तो मैं अकिञ्चन हू और ज्ञानमात्र हू। मैं अपने आपमें अपने को तकता हू तो ज्ञानके सिवाय मुझमें और कुछ नजर नहीं आता।

सुख दु:खकी स्थितियोंमे ज्ञानभावका परिणमन—कभी सुख भोगते हों तो क्या हो रहा है अन्य ? ज्ञान ही उस प्रकारसे अपने जाननका काम कर रहा है। हमें वहा ज्ञान ही ज्ञान नजर आ रहा, सुख तो नजर आता ही नहीं। सुख नाम रख दिया गया है ज्ञानकी एक इस परिणतिका नाम कि जहा ज्ञान ऐसा अनुभव करे कि इस प्रकारसे जानन चलाये जैसा कि माने गए सुखमें हुआ करता है। हमको तो ज्ञान ही ज्ञान नजर आ रहा है, दु:ख भी कहा है ? ज्ञान ही उस रूपसे वर्तता है। जिसमें यह जीव आकुलित हो जाता है। हम किसी परपदार्थसे नेह लगाकर, किसी इष्टके वियोगमें किसी अन्य अनिष्टके सयोगमें जो कुछ इसके अन्तर उत्सुकता जगती है उसके साथ जो ज्ञानकी गति चलती है, ज्ञान उस स्वरूपको जान रहा है, वही दु:खका अनुभव है। सो दु:ख भी क्या है ? ज्ञानकी एक इस किस्मकी परिणति हो रही, बस यही दु:ख दिख रहा है। सुख दु:खकी भी बात आप जाने दो। जो आत्माके लिए हितकर भाव है उनमें भी हमें ज्ञान ही ज्ञान दिख रहा है, अन्य कुछ दिख ही नहीं रहा है।

रत्नत्रयधर्ममे ज्ञानभावका परिणमन—कहते हैं कि सम्यग्दर्शन है। जीवमें सम्यक्त्व गुण है। तत्त्वका यथार्थ विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। मगर तत्त्वका यथार्थ विश्वास क्या ज्ञानसे बाहर है ? क्या ज्ञानका कोई इससे अलग परिणमन है ? ज्ञानका ही विश्वास रूपसे इस प्रकारका परिणम जाना बडी दृढताके साथ यह ऐसा ही है, ऐसे दृढ निर्णयके साथ जो ज्ञानकी जानकारी चलती है वही तो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान—बस ज्ञानकी अन्य विशेषतायें न निरखकर केवल एक जाननका ही स्वरूप दीखे उस निगाहसे यह सम्यग्ज्ञान दिखता है। यही ज्ञान जब स्थिरतासे यों ही ज्ञानरूप वर्तता है और ऐसा इसका स्वभाव है कि इस ज्ञानको केवल ज्ञानरूपसे वर्तना चाहिए और उस प्रकारके वर्तनेमें बात यह स्पष्ट हुई जहा कि रागादिक विकारके त्याग रूपसे वह वर्तता है, वही सम्यक् चारित्र है।

ज्ञानका अविकार स्वरूप—ज्ञानमे कहा है रागादिक ? ज्ञानका स्वरूप क्या है ? जानन। उस ज्ञानके स्वरूपमें रागादिक विकार हैं कहा ? मेरा सहज स्वरूप मेरे ही सत्त्वके कारण मेरेमे अपने आप जो कुछ स्वरूप वर्त रहा है उस स्वरूपमें राग है कहा ? जो सत्य है, ईमानदारीका स्वरूप है। अपने आप मिला हुआ स्वरूप है, सहजस्वरूप है, उसका ही स्वभाव है। उसको निरखिये। उसमें रागादिक विकार नहीं हैं। जैसे कि सिनेमाके

पर्दा जो स्वयं अपने आप है उसको निरखिये, दिनमें देखिये, जब फिल्म न चलाई जा रही हो तब देखिये वहां क्या नजर आता है ? केवल वही पर्देका स्वरूप। केवल वही स्वच्छ सफेद अपने सूनोंमें अपने आपमें जिस रूपसे रह रहा है वैसा और जब दिन या रातमें फिल्म अक्स डाला जाता है उस समय किस तरह पर्दा दिख रहा है। वहा सफेदीका नाम नहीं नजर आता। मत आये, लेकिन जिसे उसका मर्म विदित है उसकी प्रतीतिमें अब भी है कि पर्दा जैसा स्वय अपने आपको लिए हुए है सो यह है। ये चित्र, ये रंग इस पर्देमें नहीं है। लेकिन फिल्म हटी तो वे सब समाप्त हो गए। दर्पणमें स्वच्छता जिसने खूब परख ली है, परखना भी बहुत टेढी खीर है, आप जब दर्पणको देखेंगे कि यह स्वच्छ है कि नहीं तो आपका फोटो उस दर्पणमें आ जायेगा, अगल बगलसे, तिरछेरूपसे या किसी भी ढगसे तिरछा रखकर उस दर्पणको देख ले तो वह दर्पण बिलकुल स्वच्छ है। उसमें कोई विकार नहीं, प्रतिबिम्ब नहीं, अक्स नहीं ऐसा समझने वाले पुरुष जब कभी भी दर्पणको प्रतिबिम्ब वाला देखते है तो भी समझ लेते है कि यह प्रतिबिम्ब, यह अक्स इस दर्पणका नहीं है, दर्पण तो बिलकुल साफ स्वच्छ है। यों ही किसी प्रकारसे अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वभावका कोई अनुभव तो कर ले, वह प्रतीति कर लेगा कि यह मैं ज्ञानमात्र सहज अविकार हूं।

निज सहजस्वरूपके अनुभवके लिये आकिञ्चन्यप्रतीतिका महान् पुरुषार्थ—निज सहज स्वभावके अनुभवके लिये बहुत बलिदान करना होता है, धर्म यों ही नहीं मिल जाता है। अपने आपको अकिञ्चन समझना यह बहुत बड़ा बलिदान कहलाता है। यही बडा त्याग कहलाता है कि यह जीव अपनेको अकिञ्चन तो निरख ले। अकिञ्चन जानकर जब मेरा मेरे ज्ञानस्वभावके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, ऐसा क्यों नहीं मान लिया जाता ? मगर यह बात विश्वासमें नहीं है, आपके निर्णयमें नहीं है, तो धर्मके लिए बहुत-बहुत प्रयत्न करने पर भी न तृप्ति मिलती है, न सतोष होता है। धर्मके नाना प्रयत्न करने वाले सज्जन अन्य अन्य बातोंको गौण करके एक सकल्प इसीका बना लें कि मुझे तो यह समझकर रहना है कि मैं अकिञ्चन हू और अगर अकिञ्चन नहीं हू तो मुझे वह भी समझ कर रहना है। इसके बारेमें हमें सत्य निर्णय चाहिए कि मैं अकिञ्चन हू। मेरा मेरे स्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नहीं है और यदि अकिञ्चन नहीं हूं, सकिञ्चन हू, है मेरी कुछ बाहरकी चीज तो मैं वही मानकर रह जाऊँगा। जैसा भी मैं सहज हू उसमें नियमसे शान्ति मिलेगी। मैं सकिञ्चन हू यदि यह बात सही है तो परद्रव्योंके लगावमे मुझे अवश्य ही शान्ति मिलेगी

और यदि मैं अकिञ्चन हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है यह बात यथार्थ है तो अकिञ्चन माननेसे ही मुझे शान्ति मिलेगी। मेरा जो स्वरूप है उसही में मुझे शान्ति मिल सकती है। किसी भी पदार्थका स्वरूप उस स्वरूपके बिगाड़के लिए नहीं होता, यह नियम है। आत्माका स्वरूप सकिञ्चन नहीं अकिञ्चन है यह स्पष्ट है। मेरा स्वरूप अकिञ्चन है ऐसा निर्णय तो करलूँ फिर मुझे कुछ डर नहीं। मैं अन्यरूप तो हूं नहीं, फिर अन्यके उन्मुख न होकर स्वके उन्मुख रहूंगा और शान्ति पाऊँगा। मेरा अकिञ्चन स्वरूप है, मेरा मैं अकिञ्चन बनकर रहूंगा तब शान्ति पाऊँगा। तो अपने को यह निर्णय करना है कि मैं अकिञ्चन हूं।

आकिञ्चन्य भावके प्रयसरसे लाभ उठानेका अनुरोध—यदि कोई पुरुष कुछ भी विवेक रखकर इस निर्णयके लिए चलेगा तो उसे तुरन्त ही ये आसार नजर आयेंगे कि मेरा कुछ नहीं है। बहुत सी बातें तो यों अकिञ्चनताके लिए इङ्गित होगी कि यह जीवनमें ऊब गया ना। जिस जिसको हमने माना कि यह मेरा है और जिस जिसने बड़ी प्रीति दिखाकर आपको विश्वास पैदा कर दिया कि सचमुच ये मेरे ही तो हैं। अनेक बार उनके कर्तव्योंसे, उनकी उपेक्षासे, उनकी कपटी प्रवृत्तियोंसे आपको अनेक बार ऊब आती रही है, इससे भी माना जा सकता है कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। और जब प्रकट दिखता है कि लोग ये सब ववंडर समागम छोड़ कर चले जाते हैं, मर जाते हैं, उनका यहा कुछ नहीं रहता है, न जाने यहासे मरकर कहा किस पर्यायमें उत्पन्न होते हैं और वहा क्या बीतती है? उनका फिर यहाँ कुछ रहा क्या? रंच मात्र भी कुछ न रहा। कल्पना से भी कुछ नहीं है। तो जब इससे भी स्पष्ट नजर आता कि मेरा कहीं कुछ नहीं है और यह देह तक भी मेरा कुछ नहीं है।

कषायोंसे निजका अन्यत्व— जब और अन्दर विवेक करने चलते हैं तो यह भी परखमें बात आ जाती है कि जो कुछ मैं सोचता हू वह भी नहीं रह पाता है, वह मिट जाता है। जो कषाय करता हू वह कषाय भी नहीं रह पाती, मिट जाती है। भले ही अन्य कषायें आती रहती हैं, और यही परेशानी है इस जीवको। जो वर्तमानमें कषाय है वह खूब हो ले, डटकर हो ले, जितना उसमें बल हो, तीव्रसे तीव्र हो ले, हो तो ले, मगर फिर कषाय न जगे तो इन कषायोंका भी मुझे डर नहीं। हो ले जितना तेज होना हो, किन्तु परेशानी तो यह है कि ये कषायें मिटती हैं और नवीन कषायें आती हैं। तो यहाँ यह देखिये कि दुःख तो एक कषायसे है और आगे कषाय उत्पन्न होगी, उससे किसीको प्रेम नहीं है। भले ही यह जीव जब किसी परवस्तुके बारेमें चाह करता है और वह चीज आज है नहीं, होगी

फिर भी उस चीजसे वह लगाव रखता है। यहां तो यह बात कुछ बन जाती है, मगर अपने आपमें जो कषायभाव जग रहा है उसमें यह बात नहीं बनती कि कल जो मेरी कषाय बनेगी उसमें मेरा प्रीतिभाव हो अथवा लगाव हो। चार दिन बाद जो चीज मिल सकेगी, जिसका हम अभीसे विचार कर रहे हैं तो वाक्यमें तो यह कह सकते कि चार दिन बाद होने वाली चीजमें इसका लगाव हो रहा है, मगर चार दिन बाद होने वाली चीजमें जो इसका बलिदान बन रहा है वह तो वर्तमान पर्याय है, वह वर्तमान कषाय है। कषायोंमें इसका वर्तमान कषायमें ही लगाव है। भविष्यकी कषायमें इसका लगाव नहीं हो सकता। जैसे चार दिन बाद होने वाली बातमें यह कब मिले, ऐसा लगाव है, क्या इस प्रकार चार दिन बाद, दो दिन बाद, एक मिनट बाद जो कषाय होगी उस कषायके प्रति भी किसीका ऐसा लगाव है कि जो दो मिनट बाद कषाय जगेगी वह कब आये मेरे लिए ? उस कषायके प्रति किसीका लगाव नहीं है। तब आप समझिये कि झंझट इसमें अनेक नहीं हैं, एक है और हम ऊब जाते हैं। कि मुझको तो अनेक झंझट लगे हुए हैं। क्या करें ? इन सब झंझटोंसे हम कैसे छूट पायें ? अरे भाई, झंझट कहाँ अनेक लगे हैं ? वर्तमान समय में एक क्षणको भी अपने विकार अनुभवमें नहीं ले पाते, जितने क्षणोंमें यह उपयोग कषायोंका अनुभव कर पाता है उसको क्षण मानकर सोचिये। एक क्षणमें जो कषाय उपजी है उस कषायमें मेरा लगाव है, बस यही एक झंझट है। कुछ अपना ज्ञानबल बढ़ायें और उस एक क्षण होने वाली कषाय वृत्तिमें अपना लगाव न रखें, लगाव खींच लें, ये अनित्य हैं, असाधारण हैं, अपवित्र हैं, आकुलताके स्वभाववाले हैं। ऐसा जानकर उस कषाय परिणमनसे अपना लगाव हटालें, एक इस झंझटसे अपना लगाव दूर करलें। फिर देखिये संकट मिटते कि नहीं। तो अपने आपको अकिञ्चन निरखकर समस्त परतत्त्वोंसे उपेक्षा करें कि मुझमें ये कोई तत्त्व नहीं हैं। उन परतत्त्वोंसे उपेक्षाभाव करके एक सत्य विश्राम लेते हुए अपने आपमें ही एक सामान्य उपयोग बनाकर निरखें। स्वयं ही ऐसी निरख बनेगी, वहां ज्ञानका साधारणरूप अनुभवमें आयेगा। उस समय आप समझ जायेंगे कि मैं ज्ञानमात्र हूं।

धर्मपालनके अर्थ एकमात्र कर्तव्य—भैया ! अपने को अकिञ्चन समझना, ज्ञानमात्र निरखना, बस यही काम करना है धर्म पालनके लिए। जिसने अनेक वर्ष धर्म करते-करते बिता डाले और इतने पर भी कभी भी मुक्तिके आनन्दकी रंचमात्र भी झलक नहीं आ पाती। सिद्धके क्या आनन्द है, उस आनन्दका अनुमान करने लायक भी अपने आपमें

आनन्दकी-झाँकी नहीं आ पाती है। तो समझिये कि हमने धर्म नहीं किया। धर्म किया हो तो सिद्ध प्रभुके जो आनन्द वर्त रहा है उस आनन्दका हमें यहां अनुमान बन सकता है। यह है शुद्ध आत्माका आनन्द। तब क्या करना? बहुत समय लगाया। रोज रोज घंटोंका समय लगाया और सालभरमें कभी-कभी कई कई दिन धर्ममें लगाये, बड़ा श्रम किया, धन भी खूब खर्च किया, शरीरका भी सब दिया। मन भी बहुत लगाया, उपवास भी अनेक कर करके एक शरीरको निर्मल भी किया, लेकिन धर्मकी जो निशानी है कि एक सिद्ध भगवान की जातिके आनन्दका लेश झलक हो जाय, वह निशानी न हम अपने आपमें तक सके, तो मालूम होता कि हमने धर्मपालन नहीं कर पाया। धर्मके बिना यह जीव पार न हो सकेगा, संसारकी मुसीबतोंसे यह न छूट सकेगा। इसलिए धर्म करना तो अति आवश्यक है। इतना अति आवश्यक है कि धर्मके मुकाबलेमें न रोजगार आवश्यक है, न अपनी कोई बाहरी व्यवस्थायें बनाना इतना आवश्यक है, न दुकान, मकान आदिकका सजाना उतना आवश्यक है न ऐसा भोजनपान करना उतना आवश्यक है। आत्माको आवश्यक है धर्मका पालन। धर्मपालन न करे आत्मा तो इस भवमें भी बरबाद ही रहेगा और आगे भी जन्म मरणकी परम्परा बढ़ेगी।

ज्ञानके सदुपयोगका लक्ष्य—भैया! मिला है यह दुर्लभ नरजन्म, जिसमें इतनी विशुद्ध बुद्धि, विशिष्ट ज्ञान कि जिस तत्त्वको हम समझना चाहें बारीकीसे तो समझ डालते हैं। इतना ज्ञान मिला है तो उस ज्ञानका हम सदुपयोग करें, परपदार्थ जो मेरे नहीं हैं, न हो सकेंगे और जिनकी दृष्टि रखकर आकुलताओंका निर्माण होता है उन परपदार्थोंमें अपना ज्ञान लगाना, दृष्टि फँसाना, उपयोग उलझाना, यह तो ज्ञानका सदुपयोग नहीं है। पाया है हम आपने ज्ञान तो उस ज्ञानका सदुपयोग करें तब तो दुर्लभज्ञानकी प्राप्ति होनेकी सफलता समझी जाय। जैसे कोई पुरुष धनी हो गया और वह धनको बरबाद करता है वेश्यागमनमें, परस्त्रीमें, मद्य-पानमें, गुंडोंकी दोस्तीमें यों ही लुटाता है तो विवेकी समाज कहता है कि धन तो पाया मगर धन पानेका मजा न ले पाया, क्योंकि इसने धनका दुरुपयोग किया। इसी प्रकार इस नरजीवनमें हम आपने ज्ञान पाया बहुत विशिष्ट। प्रथम तो पशु पक्षियोंके मुकाबलेमें भी परखिये कि हमने कितना विशिष्ट ज्ञान पाया और फिर अनेक मनुष्योंपर दृष्टि डालकर परख लीजिए कि हमने करोड़ों अरबों मनुष्योंसे भी विशिष्ट ज्ञान पाया। सारी दुनियामें मनुष्योंकी संख्या अनगिनते अरबोंकी है। यहाँ तो लोग इस थोड़ी सी परिचित दुनियाके लोगोंकी संख्या बता देते हैं, पर तना

ही संख्या मनुष्योंकी नहीं है, मनुष्योंकी संख्या अनगिनते अरबोंकी है। तो अब आप समझ लीजिये कि अरबों मनुष्योंसे हम आपको कितना अधिक विशिष्ट ज्ञान मिला हुआ है। लेकिन इस ज्ञानका दुरुपयोग किया जा रहा है। ज्ञानमें परवस्तुवें ही बसायी जा रही हैं। बहुत पुण्यके उदय का एक अपना जौहर मा बता रहे हैं। कैसा सफाईसे रहना, कैसा परिजनोंमे, मित्रजनोंमें स्नेह करना, दूसरोंसे अपनेको बड़ा सज्जन मना लेना, ये सब इस ज्ञानके उपयोग किए जा रहे हैं। भले ही लौकिक दृष्टि में अन्य अनेक अधिक गड़बड़ गृहस्थोंके मुकाबलेमें कुछ श्रेष्ठ काम हैं, पर लगावके नातेसे तो वे काम हमारे व्यर्थके काम हैं और ज्ञानके दुरुपयोगके काम हैं। हाँ, ज्ञानका सदुपयोग यह है कि मैं अपने इस सहज ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें ले सकूँ और अपने आपके सहजस्वच्छ स्वरूपमें अपनी प्रतीति बनाये रहूं, तो यह है ज्ञानका सदुपयोग। और ऐसे ज्ञानका सदुपयोग करनेके लक्ष्यमें रहकर और कुछ करते हुए फिर घर परिजनोंकी व्यवस्था बनायें इसी प्रकार, तो वह भी ज्ञानके सदुपयोगमें शामिल हो सकता है, लेकिन ज्ञानका जो मुख्य सदुपयोग है वह दृष्टिमें नहीं है तो दुनियावी निगाहसे ज्ञानका कितना भी उत्तम सदुपयोग कर लिया जाय, वह ज्ञानका सदुपयोग नहीं है। तो इतना दुर्लभ श्रेष्ठ ज्ञान हम आपने पाया है तो उस ज्ञानका सदुपयोग है यही कि इस ज्ञानके द्वारा ज्ञानके स्वरूपको अपनी दृष्टिमें लिए रहें।

ज्ञानस्वभावकी वंदना, उपासनाका पौरुष— यहां समाधिभक्त संत अपने आपमें अपने स्वरूपको देख रहा है। मैं अकिञ्चन हूं, अकिञ्चन हूं इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं। मेरेमें बाहरी चीज कुछ भी नहीं है। परतत्त्वोंका मुझमें रंच भी प्रवेश नहीं है। मैं अकिञ्चन हूं और हूं वह ज्ञानमात्र। इस अकिञ्चन ज्ञानमात्र मुझ आत्माका उद्धार हो सकेगा तो इस ही ज्ञानमात्र स्वरूपके अनुभवसे हो सकेगा। यही ज्ञान सर्वत्र है, ज्ञान ही सम्यक्त्व, ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान और ज्ञान ही सम्यक्चारित्र है। ऐसे इस परमपवित्र ज्ञानस्वरूपको मैं निहारूँ और उसमें ही तृप्त रहकर अपने क्षणोंको सफल करूँ। हम बाहरी सफाई तो बहुत रखते हैं, मगर कितनी सफाई अपने आपमें है इसको निरखिये। अत्यन्त स्वच्छ केवलज्ञान ज्योति मात्र, कितना सुहावना है मेरा घर, कितना स्वच्छ है यह मेरा घर, जहां केवल सहज ज्ञानप्रकाश ही अन्दरसे एक समान, एक रूपसे, एक ढंग से बन रहा है। घरमें रंग रोगन लगे तो कितनी ही सफाईसे करे, कहीं गाढ़ा, कहीं कम रह जायेगा, लेकिन मेरे निजी घरमें जो स्वच्छता है उस मे तो एकरूपता है। वहां की स्वच्छता कितनी सुन्दर कितनी सुहावनी है?

एक इस निजगृहकी स्वच्छतामें ही तृप्त रहें और सिद्धकी जातिके आनन्द का हम अनुमान करते हुए, लेशमात्र अनुभव करते हुए बड़ी शान्तिपूर्वक रहें यह बात मिलती है रत्नत्रयस्वरूप इस ज्ञानस्वरूपकी उपासनाके प्रसाद से। सो मैं अभेद वंदनपूर्वक इस निज रत्नत्रयस्वरूप ज्ञानस्वभावका वंदन करता हूं।

वृषभ अजित संभव तत्त्वकी उपासना—रागद्वेषरहित केवल ज्ञानभावके बीच सर्वसार समझने वाला समाधि भक्त संत बाहर जब किसीकी सेवा मे अपना उपयोग लगाता है तो उसे सेवा योग्य केवल वीतराग सर्वज्ञदेव की उपासना करता है, तो प्रयोजन उसका समाधिभाव ही है। यहां यह समाधिभक्त संत चतुर्विंशति जिनेन्द्र देवकी वंदना कर रहा है और उन २४ तीर्थंकरोंकी वन्दनाके समय निरखा क्या जा रहा है? जो लगन लगी है। जिसका जीवनमें लक्ष्य बनाया है वही उसे दृष्टिगत होता है। जैसे माता का पुत्रके प्रति पुत्रकी सब अवस्थाओंमें पुत्रत्व वही लाल्यभाव रहता है। इसी प्रकार ज्ञानीसंत समस्त तीर्थंकरों की वन्दना करते समय उसे वही शुद्ध लक्ष्य ज्ञानस्वभावमें रहता है। उनके नामकी वंदना करते हुए भी वंदना कर रहा है उस समाधिभावकी ही। जहां वृषभ शोभायमान है वृषभ कहिये वृषो भांति यत्र सः, ऐसे इस वृषभ आत्माका वंदन करता हुआ वृषभदेव नामक तीर्थंकर की मैं वंदना करता हूं। यह शुद्ध आत्मस्वरूप अजित है। किसीके द्वारा भी जीता नहीं जा सकता। जिसकी दृष्टि इस शुद्ध ज्ञानस्वभाव पर है वह आत्मा ही अजित हो जाता है। विषयोंके साधन उसको फिर कितना ही प्रलोभन दें, पर वह किसीके द्वारा भी पराजित नहीं होता। ऐसा जो अजित स्वभाव है, इस अजित ज्ञानस्वभावका उपासक संत अजितनाथ तीर्थंकरका मैं वन्दन करता हूं। यह आत्मस्वभाव अनादिकालसे तिरोभूत है। इस ज्ञानस्वभावका जब सम्भव होता है, अपने सहजस्वरूपके रूपमें जब विकास होता है तो इसका यह सम्भव इसका यह विकास सदाके लिए यह विकास रहा करे, जिस सम्भवका कभी व्यय न हो ऐसा सम्भव होता है। इस आत्मतत्त्वका आत्मतत्त्वके उपयोग के प्रसादसे कि जिसका फिर कभी विनाश न हो। यद्यपि अगुरुलघुगुणके कारण निरन्तर होने वाला परिणमन चलता रहता है पर वे सब समान रहते हैं। उस समानताकी दृष्टिसे जो विकास पाया है उस विकासका कभी भी व्यय नहीं हो सकता है। तो व्ययरहित जिसका स्वरूप हुआ करता है ऐसे इस ज्ञानस्वभावमय सम्भवनाथ की मैं वंदना करता हूं।

अभिनन्दन सुमति पद्म सुपार्श्व चन्द्र तत्त्वकी उपासना—यह समाधिभक्त संत जब अपने आपमें रागादिक विकार रहित केवल ज्ञानस्वभाव

आत्मदेवको पा लेता है उस समय इसके अभि कहो चारों ओर नन्दन कहो आनन्द चलता है जिसके आलम्बनसे अभिनन्दनका अनुभव होता है। ऐसा उस अभिनन्दन प्रभुकी मैं वंदना करता हूं। जहां शुद्ध ज्ञानका ही विस्तार है, दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है, जो केवल निज है, स्वय है ज्ञानस्वरूप है, जो कि स्वभावतः सहज है, ऐसे इस सुमतिके नाथकी मैं वंदना करता हूं। समाधिभक्त संतको केवल समाधिकी प्रीति है, दूसरी ओर धुन नहीं रहती और कुछ इसकी चाह ही नहीं रहती। जैसे किसी का कपट जानकर बालक फिर उस चीजको ग्रहण नहीं करता, चाहे उसे कितनी ही खानेकी चीज फिर दी जाय पर वह उन्हें फेंककर उनसे निवृत्त रहना चाहता है। उन चीजोंमे इसका चित्त नही लगता। इसी तरह इस संसारका कपट जानकर इस भव्य आत्माको रूपसे उपेक्षा हो गई है और उस उपेक्षा होनेके कारण वह अपने आपमें ही समाये रहनेकी धुन बनाये हुए है। किसीमें भी उसका चित्त नहीं लगता है। ऐसे समाधिभक्त ज्ञानी संतको केवल समाधिभावमें ही रुचि हो रही है और वह समाधि है अपने आपमें और वह है प्रकृष्टरूपसे शोभायमान। तो जो अपने अंत-स्तत्वमें ही प्रकृष्टरूपसे विकसित है, विराजमान् है ऐसे पद्मप्रभु देवकी मैं वंदना करता हूं। जो समाधिका आधार है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। समाधिमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह किसी भी विषयके लगावमें नहीं मिलता। वह आधार कहां कहां ढूंढा जाय और वह तो अत्यन्त निकट है। और निकट रहने वाला भी नहीं, किन्तु स्वय पास है, पास भी क्या, जो स्वय ही है, ऐसे इस स्वभावके नाथ सुपार्श्वनाथकी मैं वंदना करता हूं। इस सुपार्श्वदेवमें, इस सहज निज स्वरूप में ही अमृततत्त्व बसा हुआ है। जो न मरे उसे अमृत कहते हैं। जैसे कहते हैं कि अमृतका पान करो तो इसका अर्थ यह है कि जो मृत नहीं है ऐसे अमृतका पान करो। जो मरता नहीं है सो अमृत। जगत्में कोई भी बाह्यवस्तु ऐसी नहीं है क्योंकि कोई फल या रस या कोई पदार्थ अमृत होता तो जब उसका पान किया जाता तो वह तो मुखमें आते ही मर गया। जो मर गया वह तो मृत है। वह अमृत कहां है ? अथवा जो रागादिक विकारोंमें अधिक रहा करता है, इच्छा करके विषयोंका भोगोपभोग करता है, वे बाह्यपदार्थ उनका जो कुछ भावोंमें अनुभव किया जा रहा है, पान किया जा रहा है वह मृतपान है। वे पदार्थ भी कर गए और ये इच्छायें, ये रागादिक विकार, ये होकर भी मर जाते हैं। अन्तरंगमें विकारोंका पान किया है जो कि मृत है, लेकिन आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप यह अमृत है। कभी मरता नहीं है, किन्तु जैसे जैसे इसका पान किया जाय, जैसे-जैसे इसका अनुभव किया जाय वैसे

ही यह विकसित होता है, जीवित रहता है। ऐसे इस अमृत समाधिभाव से जिसका झरना हो रहा है ऐसे चन्द्रकी तरह जो अपने आपमें प्रकृष्ट रूपसे भासमान है, ऐसे निज ज्ञानमय चन्द्रप्रभुको मैं वदना करता हू।

पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान् वासुपूज्य, विमलतत्त्वकी उपासना— पुष्पदन्त यह आत्मा स्वय पुष्पदन्त है, पुष्प कहते हैं विकसितको। जो विकसित हो उसे पुष्पदन्त कहते हैं। दमनशील, जिसका अपने आप पर नियन्त्रण हो, जो स्वय अपने उपयोगमें नियंत्रित हो ऐसा यह पुष्पदन्त स्वरूप पुष्पदन्त-प्रभुकी मैं वन्दना करता हू। जो परमशीतलताके स्वामी हैं। शीतलका अर्थ यहाँ ठडेसे नहीं है, किन्तु जो ठंडे को लावे उसे शीतल कहते हैं। ठडे का अर्थ है शान्ति। जो शान्तिको पैदा करे उसे शीतल कहते हैं। ससार की इस विकल्प अग्निसे संतप्त हुए पुरुषोंको जो शीतल करे, ऐसा शीतल यह स्वय ज्ञानमय प्रभु है। ऐसे स्वयं शीतल, शीतलनाथकी मैं वन्दना करता हू। समाधिभक्त पुरुष अपने आपको निरख रहा है कि यह ही मैं स्वय कल्याणस्वरूप हू, श्रेयास हू। मैं अपने आपके इस अविनाशी ज्ञानस्वरूपको अपने उपयोगमें रमाये रहू तो यह मैं स्वय श्रेयास हू, कल्याणमय हू। ऐसा अपने आपमें अपने ज्ञानानन्दस्वरूप कल्याणको निरखता हुआ समाधिभक्त पुरुष कहता है कि मैं श्रेयास नाथको नमस्कार करता हू। इस श्रेयासनाथकी उपासनासे हमें अपने आपके श्रेयास स्वरूप की याद आती है। यह आत्मा ही वासुपूज्य है। जगतमें जितने भी इन्द्र हैं ऊर्द्धलोकके, अधोलोकके इन इन्द्रोंके द्वारा जो पूज्य है, सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके द्वारा जो उपासनीय है ऐसे वासुपूज्य इस ज्ञानानन्द स्वभावके अनुरागमें समाधिभक्त पुरुष इस वासुपूज्यका वदन कर रहा है। यह आत्मतत्त्व विमल है। कोई भी पदार्थ होता है तो वह अपने आपमें अपने आपकी ओरसे स्वय कैसा है? स्वय अपने स्वरूप है। उसमें परका कोई लगाव नहीं है और परका कोई प्रभाव भी नहीं है। इसी प्रकार यह मैं आत्मा अपने सहजभावसे अपने आपमें कैसा हू? केवल ज्ञानस्वरूप, निर्मल, जिसमें किसी प्रकारका मल नहीं। मल सदा द्वन्द्वमें होता है बाह्य वस्तुके सम्पर्कसे होता है। बाह्य कहते उसे हैं जो स्व समय हो। यदि डेस्कपर कोई दूसरी चीज रखी हो तो वह डेस्क समल है, निर्मल नहीं है। किसी भी चीजका लगाव लगा हो तो भी वह विमल नहीं है। विमल तब होता है जब वह अपने एकत्वस्वरूपको लिए हुए होता है। तो यह अन्तस्तत्त्व विमल है। केवल अपने आपके सहज ज्ञायकस्वरूपको ही लिए हुए है। ऐसा विमल स्वभाव अन्तस्तत्त्वका भक्त पुरुष विमलनाथ स्वामीका वदन करता है।

स्वरूपके नाथ कुन्थुनाथकी मैं वंदना करता हूं। यह स्वभाव किसीकी दृष्टि में आ तो जाय, फिर ये कर्मशत्रु, विकल्पशत्रु आदि ठहर नहीं सकते अतएव यह आत्मस्वभाव अरह है। अरिका हनन करने वाला है, इसी कारण यह आत्मस्वभाव समस्त जनोंके द्वारा वंदनीय है। ऐसे इस अरहनाथका मैं वंदन करता हूं। जगतमें विकृत बल पर गौरव रखने वाले मल्ल बहुत मिलेंगे। शरीरमें जो बल प्रकट हुआ है वह विकृत बल है। आत्मा अनन्त बली है। उसका सम्बन्ध है इस शरीरके साथ। जब आत्मा शरीरसे विदा हो जाता है तो बलिष्ट भी मल्ल हो उसमें बल नहीं रहता। पड़ा रहता है। तो इस शरीरमें जितने भी बल आये वे बल कहांसे आये? किसने प्रकट किए? यह बल आत्माके विकृत बलका प्रताप है। तो विकृत बलसे गौरव रखने वाले मल्ल जगतमें अनेक मिलेंगे, किन्तु अनादि कालसे जो शत्रु सता रहे हैं संकल्पविकल्प, वे बराबर मर जाते हैं किन्तु इनके कुलकी ऐसी परम्परा चलती रहती है कि ये सब विकल्प बराबर चलते रहते हैं। उन समस्त विकारों पर विजय करने वाला, उनके समूहको नाश करने वाला कौन है? यह स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा। ऐसे मल्लिनाथका मैं वंदन करता हूं।

मुनिसुव्रत, नमि, नेमि पार्श्व, वर्द्धमान तत्त्वकी उपासना—यह आत्मा किस उपायसे इस शत्रुपर विजय करता है? दूसरे शत्रुको कोई दूसरा मारे तो बहुत क्रोध करना पड़ेगा और क्रोध करनेसे ही दूसरे को मारा जा सकेगा। किन्तु आश्चर्य है कि यहां शान्तिके बलपर, ज्ञानके बलपर दूसरों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है। यह आत्मा सहज व्रत है, स्वव्रत है। तो यह मुनि सुव्रत आत्मदेव इस समस्त आत्मामें ज्ञानके बलपर अपने आपमें लगे, ऐसा क्यों नहीं होता। देखो लोकमें तो किसी पर विजय पाने के लिये क्रोध लाना पड़ेगा, अपनेसे बाहरमें चेष्टा करनी पड़ेगी तब वहां शत्रुवोंका नाश किया जा सकता है, पर यहां इस अनादिकालसे चले आये हुए इन विकारोंको नाश करनेके लिए उससे बिल्कुल उल्टा काम करना पड़ रहा है। यहां क्रोधी बनकर दूसरोंको पछाड़ पाते हैं तो यहाँ ज्ञान बनाकर कर्म शत्रुको पछाड़ा जा रहा है। यह दुनियावी बल अपनेसे बाहर होकर शत्रुका नाश कर पा रहा है, किन्तु यह अपने आपमें समाकर अपने आपमें लीन होकर इन शत्रुवोंको समाप्त कर रहा है। ऐसा यह मुनिसुव्रत आत्मदेव वंदनीय है। ऐसा कौनसा चक्र है जिसके द्वारा अपने आपको सताने वाले शत्रुका ध्वंस किया जाय? वह चक्र है यह स्वयं आत्मदेव, यह ज्ञानानन्दस्वरूप सहज आत्मतत्त्व। ऐसे इन समस्त संतापोंको नष्ट करने वाले नेमिनाथ स्वामीकी मैं वंदना करता हूं। पर

अपनेको शान्ति ज्ञान आनन्द पानेके लिए बहुत बड़ा काम करना है और यह काम आजकी स्थितिमें बड़ा बोझसा जच रहा है। जैसे सम्यक्त्वका आचरण, सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्ति, सम्यक्चारित्र रूप परिणमन। नियम व्रत, संयम, ये सब बड़े बोझ लग रहे हैं और इन सब बोझोंका धुरा है संसारी जीवोंका अज्ञान। इस बोझको जब रत्नत्रयके धुरे पर विराजमान करें तो यह कोई बोझ नहीं मालूम होता है। जो धर्मकी धुरेपर अपने आपके उपयोग को विराजमान करके चलता है और चलकर संसार उपयोग करके मुक्तिमार्गमें पहुंचता है। उस धुरेके धारण करने वाले नेमिनाथ स्वामीकी मैं वन्दना करता हूं। वह सब कुछ है कहाँ ? वह यहीं पास है अथवा इसे पारस कहो। जैसे पारसका सम्बन्ध लोहेसे हो जाय तो लोहा स्वर्ण बन जाता है, इसी प्रकार पारसका सम्बन्ध हो जाय इस उपयोगसे, जो उपयोग अब तक मलिन बन रहा है उस उपयोगका इस पारससे स्पर्श तो हो जाय, बस, यह उपयोग शुद्ध अविकार हो जायेगा, यह स्वच्छ बन जायेगा। जो स्वयं ऐसा पारस है ऐसे पार्श्वनाथ प्रभुकी मैं वंदना करता हूं। यह आत्मदेव वर्द्धमान है। बढ़नेका ही स्वभाव रखता है। इसकी ओर कोई आये तो सही, इसकी ओर कोई दृष्टि तो दे। यह स्वयं वर्द्धमान है, प्रगतिशील है। प्रतिक्षण यह बढ़ते रहने का स्वभाव रखता है। ऐसे वर्द्धमानदेवकी मैं वंदना करता हूं। इस वर्द्धमान स्वभावकी उपासनासे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

आत्मदेवकी उपासनासे संकट दूर होनेके मार्गका लाभ—ये चौबीस तीर्थंकर अनेक अन्य समस्त आत्माओंसे जो कि निकटभव्य थे जिन्होंने अपने आपमें अपने स्वरूपकी आराधना की, जिसके प्रतापसे निर्वाण प्राप्त किया, उनके निर्वाणके उपलक्षमें मैं उनकी वंदना करता हूं। ठीक है किन्तु भीतरसे एक पर्वके नातेसे भी रुचि नहीं होती तब अन्तरङ्ग वंदनाका क्या भाव हो ? जिसकी रुचि होती उसकी पूजाके लिए, उसकी उपासनाके लिए लिए बहुत जल्दी-जल्दी उसके पूजनेकी बात मनमें रहती है, लेकिन जहाँ जल्दीकी बात तो दूर रही, किन्तु और जनोंसे भी अधिक देर लगायी जाय वहाँ यह कैसे अनुमान किया जा सकता है कि पर्वके नातेसे भी वर्द्धमान प्रभुकी उपासनामें हमारी रुचि है। रुचिके बिना जो भी काम किए जाते हैं भावमें वह भावना नहीं जग सकती। हम यदि इस वर्द्धमान स्वभावकी, इस वीतराग स्वभावकी रुचि बनायें और उस स्वभावकी उपासनामें हम अन्य काम छोड़कर जल्दी मचायें तो यहाँ यह भली बात है। यह नरजीवन थोड़ेसे समयके लिए मिला हुआ है। जब तक इस देहमें किसी प्रकारका रोग न आये, बुढ़ापेसे यह देह घिर न जाये, तब तक इस

नरजीवनका सदुपयोग कर ले, उसके ही निकट अपना उपयोग रखें और उसमें ही तृप्त रहनेकी अपनी प्रकृति बनायें। चाहे दुकानपर हों अथवा अन्य किसी जगह, किसी भी कामके प्रसगमें हो, सब जगह अपने आपके निकट रहकर इस आत्मस्वरूपकी उपासना की जा सकती है। कर्तव्य यह है कि अपने आपके उस ज्ञानानन्दस्वरूपको सारभूत जानकर अन्य सबको असार जानें। चाहे तीन लोककी सम्पदा भी प्राप्त हो, उस सम्पदाको भी असार तृणकी नाई समझे। पर अपने ज्ञानस्वरूपकी उपासनाका कार्य कर लें। यही एक सारभूत कार्य है। यदि यह कार्य कर लिया गया तो समझो कि बेडा पार है। इस आत्मस्वरूपकी उपासनासे ही हम आपके समस्त संकट सदाके लिए टल सकते हैं।

समाधिभक्त द्वारा समाधिसंपन्न पञ्च गुरुवोंकी वदना— समाधिभाव की उत्सुकता समझ लेने वाला ज्ञानीसत जो जो पुरुष समाधिभावको ग्रहण कर रहे हैं और उसमें सफल हुए हैं उन सब पुरुषोंको नमस्कार कर रहा है, कोई नमस्कार करे और किसीको नमस्कार किया जाय, इस बीच जो नाता है वह समाधिभावसे नाता है अन्य नाते से नमस्कार करनेका सम्बन्ध नहीं है। तब समाधि भावके धनी ५ महान् आत्मा हैं जिन्हें पच-गुरु शब्दसे कहा गया है—अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन पंचगुरुवोंकी मैं वदना करता हू। इन पचगुरुवोंमे से सबसे प्रथम गुरुपद आता है साधुका। यद्यपि आचार्य, उपाध्याय और साधु--ये तीनों ही मुनि कहलाते हैं। तीनोंका एक सा ही स्वरूप है, निर्ग्रन्थ है, निष्परि-ग्रह हैं। ये ज्ञान ध्यान तपश्चरणमें लीन रहा करते हैं। फिर भी कुछ समय साधुपदमें रहनेके बाद आचार्य अथवा उपाध्याय पद दिया जाता है इस कारण सर्वप्रथम पद मिलता है तो साधुपद मिलता है। ये पचपरमेष्ठी कहलाते हैं। परमपदमें स्थित कहलाते हैं। इनका अपने-अपने पदमें आचरण निर्दोष रहता है इसी कारण इनमें परमेष्ठिता है।

साधुवोंकी स्पर्शनविषयविरक्ति—साधुका स्वरूप कहा गया है—जो विषयोंकी आशाके वश न हो विषय हैं ६ प्रकारके। स्पर्शनइन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय और मन। कोमल चीज सुहाये, कड़ी चीज सुहाये, चिकना, रूखा, भारी, वजनदार, हलका आदि स्पर्श सुहायें, ये ८ प्रकारके स्पर्श जो सुहायें, उनकी रुचि जगे, उनके साधन मिलाये, उनमें हर्ष माने, यह स्पर्शन इन्द्रियका विषय है। साधुजन स्पर्शन इन्द्रियके विषयसे अतीत होते हैं। वडे लाड़प्यारमें, बड़ी सुकुमालतामें पले हुए वडे-वडे पुण्यवान लोग जब ससार, शरीर, भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं तो ककरीली भूमिमें सोते हैं और उसमे वे खेद नहीं मानते हैं

और न पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका चिन्तन करते है। आनन्द तो सच्ची विरक्ततामें ही प्राप्त होता है। कोई पुरुष विषयोंसे विरक्त हो, विकार रहित केवल ज्ञानस्वरूपकी ही बाट जोहता रहता हो और जिसका एकमात्र प्रयत्न यह है और जिसने एक यही निर्णय किया है कि मेरा जीवन तो केवल इस ज्ञानमात्र स्वरूपमें रमनेके लिए है, शरीरके आरामकी कोई बात नहीं चिन्तनमें लाते हैं। ऐसे आत्मसाधनाके साधक साधु पुरुष अपने आपमें अपनी ही धुन बनानेके लिए अपना सारा जीवन मानते हैं। इसी कारण साधुजनोंके पास पिछी, कमण्डल और शास्त्र ये तीन उपकरण बाहरी रूपसे पाये जाते हैं। जिनके चित्तमें शोक परिग्रह ये कुछ भी नहीं लगे हुए हैं, जिन्होंने अपना एक यह प्रोग्राम बना लिया है कि मुझे तो मुक्त ही होना है और किसी दूसरी बातमें मेरा गुजारा नहीं है। इस प्रकारका जिन्होंने अपना निर्णय बना लिया है, वे साधु पुरुष परमेष्ठी कहलाते हैं।

साधुओंकी रसनादिविषयविरक्ति--जो रसनाइन्द्रियके वश नहीं हैं, जिनका प्रोग्राम मात्र मोक्षप्राप्तिका है वे सरस भोजन नहीं ग्रहण करते। वे तो मात्र अपना जीवन चलानेके लिए शुद्ध सात्विक आहार ग्रहण करते हैं। वे जानते हैं कि घाटी नीचे माटी। भोजन जब गलेके नीचे उतर गया तब तो वह माटीके समान हो गया, उसमें फिर स्वाद कहां रह जाता ? एक क्षणके स्वादका रोग लानेसे कितना खोटा कर्मबन्ध बनता है और कैसे संस्कार बनते हैं कि जीवनभर उसके साधन बनाये रहने को दिल चाहता है। उनको अलग करनेका चित्त नहीं चाहता। घ्राणइन्द्रिय का विषय तो बिल्कुल ही एक व्यर्थ जैसा है। सूँघा तो क्या, न सूँघा तो क्या ? कितने ही पुरुष तो ऐसे होते हैं कि अनेक प्रकारके इत्र फुलेल के सूँघनेमें बड़ा मौज मानते हैं। अनेक प्रकारके फूल तोड़कर उनको बहुत-बहुत सूँघते रहनेमें बड़ा हर्ष मानते हैं, वे फूल एकेन्द्रिय जीव हैं, उन्हें प्रत्येकवनस्पति का जीव कहते हैं, पर उन फूलोंमें, उन पत्तों पत्तोंमें असंख्याते प्रत्येक जीव और रहते हैं, साथ ही यदि वह किसी प्रकार का विशिष्ट फूल है तो उसमें अनन्त निगोद जीव भी रह सकते हैं, वृक्षसे फूल फल अथवा पत्ते टूटने के बाद कुछ समय तक उसमें असंख्याते प्रत्येक जीव रहते हैं। उस समय भी पता नहीं है कि कब उसमें से जीव निकले हैं अथवा नहीं है। जब एकदम सूखा हुआसा दिखने लगता है तब तो कुछ विश्वास होता है कि इनमें से वे भी असंख्याते प्रत्येक जीव निकल गए। तो ऐसे फूलोंका ग्रहण ये साधु नहीं किया करते हैं। चक्षुइन्द्रियका विषय है रूपका अवलोकन तथा श्रोत्र इन्द्रियका विषय हैं मनोज्ञ शब्दोंमें राग।

इन सब विषयों से साधु विरक्त रहा करते हैं।

साधुओंकी मनोविषयविरक्ति— साधुको अरहतका नन्दन कहा गया है। जिनेश्वरके लघुनन्दन। वे साधु अरहतके ही कुटुम्बके माने जाते हैं, तो उनकी मुद्रा ऐसी होनी चाहिए जैसी कि अरहतकी प्रतिमा निरखते हैं जिसको किसीसे राग नहीं, किसीसे विरोध नहीं किसीसे विशेष बोलचाल नहीं, एक अपनी आत्मसाधनाकी धुनमें ही रहा करते हैं। जिनका दर्शन पाकर जिनेश्वरके दर्शन पानेके समान फल मिलता हो, ऐसा साधु परमेष्ठीका स्वरूप जिनमुद्रामें बताया गया है। तो जिनमुद्राका अर्थ इतना ही नहीं है कि जिनेन्द्र प्रभुकी तरह नग्नमुद्रा हो किन्तु जिनेश्वरकी भाँति समताका भाव भी हो। जैसे प्रभु रागद्वेष रहित हैं, उनमें अकिञ्चनता है, ऐसे ही साधुमें भी होना चाहिए, हाँ जिनेन्द्र और साधुमें इतना अन्तर है कि जिनेन्द्र प्रभुको अब पिछी कमण्डल, शास्त्र आदिक उपकरण भी रखनेकी आवश्यकता नहीं रही और यहाँ साधुको पिछी, कमण्डल तथा शास्त्र, ये उपकरण रखने पड़ते हैं। इन तीन उपकरणोंके अतिरिक्त अन्य प्रकारके परिग्रहोंसे वे अतिदूर रहा करते हैं और इस ही निष्परिग्रहताके बलपर वे आत्मतत्त्वकी साधनामें ही निरत रहा करते हैं। जिनके दर्शनमात्रसे ज्ञानी पुरुष अपने आत्मतत्त्वका स्मरण करते हैं यह समाधिभक्त सत रत्नत्रयकी वन्दनाके बाद और २४ तीर्थंकरोंकी वन्दनाके बाद पञ्चगुरुवोंकी वन्दना कर रहा है। साधुपरमेष्ठीमें आचार्य, उपाध्याय और साधु सम्मिलित हैं। जिनमें बहुत ही विशिष्ट ज्ञान होता है ऐसे इन साधुजनोंमें क्रोध रंचमात्र भी नहीं होता, वे किसीको गाली शाप आदि नहीं देते। उनकी तो चाहे कोई प्रशंसा करे चाहे निन्दा, उनकी दृष्टिमें वे दोनों ही एक समान हैं। धन्य है उनका यह भाव। जिन साधु संतोंके ये भाव आ जाते हैं, उनके दर्शन करने मात्रसे पापकर्मोंका विनाश होता है। और फिर उन समताके पुञ्ज साधुवोंकी प्रशंसा ही कौन कर सके ? चाहे कोई उनकी निन्दा करे, चाहे अर्घ उतारे, चाहे उन पर कोई तलवार चलाये, वे सब उनकी दृष्टिमें एक समान हैं। उनकी दृष्टिमें न कोई शत्रु है, न मित्र, उन साधुजनोंको वस्तुके स्वरूपका सही परिचय निरन्तर उपयोगमें रहता है इस कारण उनकी दृष्टिमें समताभाव है। इस समताभावके अधिकारी गृहस्थजन क्यों नहीं बन पाते ? यों नहीं बन पाते कि उनके पास आरम्भ परिग्रह हैं। उन आरम्भ परिग्रहोंके बीच चिन्तायें हो जाना स्वाभाविक बात है। उन परिग्रहोंके बीच अनेक प्रसंग ऐसे आते रहते हैं जिनमें क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें उत्पन्न होती रहती हैं, उनमें समता परिणाम लानेकी बात नहीं बन पाती है, लेकिन साधुपरमेष्ठी तो आरम्भ

परिग्रहसे अत्यन्त दूर होते हैं, उनको किसी प्रकारकी आशा प्रतिक्षा नहीं रहती है, उनमें पराधीनता नहीं है, इस कारण वे अपने आत्मामें स्वतंत्र विहार करते हैं।

अर्हत्पदकी परमेष्ठिता—आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीन प्रकारके साधु परमेष्ठी होते हैं। ये जब आत्मस्वरूपमें लीन हो जाते हैं तो चारघातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं। आज ऐसा सम्भव नहीं है कि कोई चार घातियाकर्म नष्ट कर सके और मुक्ति प्राप्त कर सके, लेकिन विदेह क्षेत्रमें अब भी मोक्षमार्ग चालू रहा करता है। जब चार घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं तो अरहंत अवस्था प्राप्त होती है। वहां केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थोंका परिज्ञान होता है। वैसा ही अनन्तकाल तक ज्ञान चलता रहेगा। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति व अनन्त आनन्द प्रकट हो रहा है और सदा काल ऐसा ही आनन्द प्रकट होता रहेगा। ऐसे अनन्त चतुष्टय सम्पन्न अरहंत भगवानकी मैं वंदना करता हूं। देखिये—अनन्तकाल गुजर गया, अनन्त भव गुजर गए और आगे अनन्तकाल पड़ा है। उन अनन्तभवोंमें से किसी भी भवके किसी भी साधनमें इस जीवका कुछ लगाव है क्या ? उन अनन्त भवोंमें से एक यह प्राप्त भव कुछ गिनती भी रखता है क्या ? कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। तो इस ही भवमें अन्य सब प्रकारके संकोच छोड़कर अन्य प्रकारकी आशाओंको तिलाञ्जलि देकर, समस्त प्रकारके कल्पनाजालोंको त्यागकर एक इस आत्मतत्त्वकी साधनाके लिए अपने इस एक भवको समझ लें। यदि यह काम कर लिया तो समझ लो कि कुछ ही भवोंके बाद नियमसे मुक्ति प्राप्त होगी। आखिर यहाँ सदा किसी को नहीं रहना है, आज जिसे जो भी समागम प्राप्त हैं वे भी सदा साथ न रहेंगे, ये सब बिछुड़ जायेंगे। यह जो दिखने वाला भौतिक शरीर है यह भी जला दिया जायेगा। मुझ आत्माको तो कोई देखता नहीं। इस शुद्ध आत्मा पर दृष्टि देकर मुझसे बात नहीं किया करता हैं। जो भी बात करता है वह इस पर्यायसे बात करता है, मै जो एक शुद्ध तत्त्व हूं, चैतन्यमात्र हू उससे कोई बात नहीं करता। तब किसीका क्या सकोच, किसी की क्या पराधीनता ? किसी की क्या दृष्टि देना। अपने आपको तकिये। अपने आपको निरख लिया तो आपने सब कुछ पा लिया। अपने आपको न तक पाया तो दुनियामें कितना ही भँवरेकी तरह मडराया जाय जगह-जगह, बहुत-बहुत नामवरी प्रतिष्ठा भी बना ली जाय तो उससे आत्माका रंचमात्र भी हित नहीं हो सकता। आत्माका हित तो तब होगा जब अपनेसे भिन्न सर्व परद्रव्यकी उपेक्षा करके अपने

आपके स्वरूपकी श्रद्धा की जाय और उसही में लीन हो जाया जाय। यदि ऐसा करते नहीं बन पा रहा है तो ऐसी प्रतीति तो रखिये— कि हम एक इस कामको करनेके लिए इस मनुष्यभवमें आये हैं, अन्य किन्हीं भी कार्यों के लिए नहीं—ऐसी जिनकी भावना हुई है और जो अपने आपके स्वरूपमें लीन रहनेका यत्न कर रहे वे साधु चार घातिया कर्मोंका नाशकर अरहंत अवस्थाको प्राप्त करते हैं।

अरहंत परमेष्ठीकी उपासनामें आत्मलाभ एक इस अरहंत प्रभुके अतिरिक्त अन्य किससे प्रेम बनायें, किसका विश्वास करें ? घरके स्त्री पुत्रादिक बड़े आज्ञाकारी हैं, बड़े भले हैं, अरे हैं भले हैं, वे अपने लिए हैं, मेरे लिए भले नहीं हैं, यों निरखना चाहिए। बहुत गुणवान हैं कुटुम्ब जिसका कि आकर्षण हो जाना प्राकृतिक बात है तो जहाँ धर्मका नाता है उस नातेके साथ तो आकर्षक रहा लेकिन यह बहुत सरल है, यह हमारी बात बहुत मानता है, यह हमारे लिए बहुत सुख साधन बनाता है और शान्ति से रहता है, किसी का बिगाड़ नहीं करता, ऐसे बहुत-बहुत गुण हैं, वे गुण पर्यायकी दृष्टिमें हैं। आत्मामें तो ये दोष माने जाते हैं, जिनको हम गुण समझते हैं वे गुण आत्मामें दोष हैं, किन्तु पर्यायकी निगाहमें गुण हैं। यह बहुत आज्ञाकारी है, ऐसा आज्ञाकारी होना क्या आत्माका गुण है ? यह तो आत्माका विकार है, हम किसीके गुणों पर आकृष्ट होकर उससे स्नेह बढ़ा लेते हैं लेकिन यह स्नेह बढ़ाना भी एक अपने आपके लिए आवरणका काम करता है। एक आत्माके सहजस्वभाव के नातेसे उस सहज स्वभावकी दृष्टिसे अगर सम्बंध बनता है, आकर्षण होता है वह मोक्षमार्गमें बाधक नहीं है। तो अरहंत प्रभुकी भक्ति भी हमारी केवल एक समाधिके नातेसे है। इस समाधिभक्तिमें यह निरखते जाइये कि समाधिके नातेसे ही अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुजनोंके प्रति भक्ति होती है, और कोई दूसरा नाता ज्ञानी पुरुषके नहीं है, यह जिसका निर्णय है, जिसकी ऐसी प्रवृत्ति है वह कभी भी धर्मसे विचलित नहीं हो सकता, जिस बातकी आज हम धर्मनिरपेक्षताके नातेसे उपेक्षा कर देते हैं। हमारे आचार्योंने, वीतराग सर्वज्ञदेवने यह बात एक बहुत बलपूर्वक बताई है 'कि देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।' सम्यक्त्वके कारण ये तीन चीजें हैं। देव माने तो अरहंत को। देखिये—प्रतीतिके साथ सम्बंध है, अकिञ्चन हैं, ज्ञानमात्र ही अपने को प्रतीतिमें लिए हुए हैं, और धर्मको माने तो दयामयी धर्मको माने। स्वदया और परदयाका सम्बन्ध हो, ऐसी वृत्तिको माने, यह सम्यक्त्वका कारण है। इसके विरुद्ध अगर चलें तो मिथ्यात्व होगा। संसारमें रुलना

होगा। क्योंकि उसका चित्त बदल गया। संसारके साधनोंमें ही उसकी रुचि बढ़ गई। वह सम्यक्त्वसे विमुख होकर संसारकी परम्परा बढ़ाकर अपनी बरबादी कर लगा। हे आत्मन्! कुछ अपने आपपर दया तो करो। अपने आपमें सही निर्णय करो कि मैं अकिञ्चन ज्ञानमात्र हूं। अपने आप को अकिञ्चन अनुभव करनेसे जो अकिञ्चन हो गए उनके प्रति भक्ति जगेगी। ये कौन हैं पंचगुरु? अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु। तो ये साधुजन जब चार घातिया कर्मोंका नाश कर लें तो ये अरहंत कहलाते हैं। अरहंत, अरिहंत, अरहंत। जिन्होंने चारघातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया वे कहलाते हैं अरिहंत। अरहंतमें अ मायने नहीं रुहन मायने उगने वाले, अब अनन्त काल तक जिसके संसारके अंकुर अब नहीं उग सकते हैं ऐसे आत्माको कहते हैं अरहंत। अरहंत पूज्य, जो तीन लोकके द्वारा पूज्य है उसे कहते हैं अरहंत। तो यह अरहंतपद गुरुपद है। देखिये—यहाँ अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पाचोंका अविशेषता रूपसे वंदन किया है।

सिद्धपदकी परमेष्ठिता—अब ध्यानमें लावो कि अरहंत सिद्ध तो पूर्ण निर्दोष हो गए, उनमें अब दोषकी गुञ्जाइश ही नहीं है। मगर आचार्य, उपाध्याय और साधु ये भी बहुत कुछ निर्दोष होते हैं यों पंच गुरुवोंमें अरहंत प्रभुकी वंदना करता है यह समाधि भक्त पुरुष। ये अरहंत वीतराग सर्वज्ञदेव, जब तक कि इनके साथ यह शरीर लगा हुआ है, ये विहार करते हैं, इनकी दिव्यध्वनि खिरती है, इनका उपदेश होता है। ये सब बातें होने पर भी वे वीतराग निर्दोष हैं और उनकी इस वीतरागताके प्रतापसे जब चार अघातिया कर्म अपने आप समय पाकर नष्ट हो जाते हैं तो चार अघातिया कर्मोंका सम्बन्ध था और देहका सम्बन्ध था, केवल ५ चीजोंका ही सम्बन्ध रह गया, ये पाचो ही बातें एक साथ दूर हो जाती हैं। अब रह गए वे केवल आत्मा ही आत्मा। जहाँ विकार नहीं, जहां कर्म नहीं, जहां शरीरका सम्बन्ध नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया वे कहलाते हैं सिद्ध परमेष्ठी। हम आपका निजी घर है सिद्धपद। इस पदके प्राप्त होने पर फिर वहांसे कभी हटना नहीं होता। जैसे यहां भी अपना निजी घर उसे ही समझा जाता है जहांसे कोई हटा न सके। धर्मशालामें तो कोई ठहर जाय तो वह जब चाहे हटा दिया जा सकता है पर किसीको उसके अपने घरसे कोई हटा नहीं सकता। तो इसी प्रकार यह सिद्धपद अपना निजी गृह है। वहासे कोई हटा नहीं सकता। तो अपना एक यही प्रोग्राम बनना चाहिए कि मुझे तो अपना वह सिद्धपद प्राप्त करना है अर्थात् मुक्त होना है। हमें किसीसे झगड़ा नहीं करना है।

धर्मके नाम पर कुछ भी विवाद नहीं करना है। हाँ, जो सत्य बात है एक बार यों कह देना यह आत्माकी भक्ति कहलाती है। और उसे जान कर अगर कोई प्रकाशमें भी आ जाय, उनका भला हो जाय तो मैं उनके इस कल्याणका विरोधी क्यों बनूँ ? कह दिया, बता दिया मार्ग बड़ी शान्तिसे, बड़ी सरलतासे, लेकिन धर्मके नाम पर भी सामाजिक व्यवस्था के नामपर भी हमें बकवास नहीं करनी है। दुनियाके समस्त पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं, सबका अपनेमें अपना परिणमन होता है। किसीका किसीसे कुछ नाता नहीं है। प्रभुके दर्शन करके हमें मिलता क्या है ? हमें अपने आपके स्वरूपमें लीन होनेका उपाय ही तो मिलता है। यही एक सबसे जबरदस्त हमारा और प्रभुका नाता है, इस नाते के कारण जिस पुरुषकी जिससे प्रीति होती है, जिस आत्माका जिससे अनुराग लगा है वह उतना प्रबल हो जाता है। घरको तो छोड़ने को तैयार रहे, मगर पचगुरुवों छोडने के लिए तैयार न हो सके। यों समाधिभक्त संत समाधि में सफल हुए महान् आत्माओंका मैं वदन करता हू और वंदन करता हू उन गुणोंमें इतना अनुराग हो जाता है कि उन पचगुरुओंका ध्यान नहीं होता। उसका केवल एक उपयोग रहता है इन्द्रियज ज्ञानमय और उस समय कहा जा सकेगा कि अभेद वदना, निश्चय वदना अब किया है इस समाधिभक्त ने। यों समाधिभक्त समाधिके नाते से पचगुरुवोंकी वदना करता हुआ उन पंचगुरुवोंके गुणोंमें अनुरक्त हो रहा है।

शान्तिके मार्गमे शान्तस्वरूपकी श्रद्धाकी प्राथमिकता—हम आप सब लोग सुख शान्ति चाहते हैं और उसके लिए लोग बड़ी हैरानी भी अनुभव कर रहे हैं पर सुख शान्ति मिलती नहीं। ये जितने भी धर्मके रूपक दिखाये जाते हैं उनसे हमें क्या शिक्षा मिलती है ? जरा इस पर तो कुछ दृष्टिपात करो। इस जीवको मार्गमें ले जाने में कारण सर्वप्रथम श्रद्धा है। यदि श्रद्धा नहीं है तो कोई उस मुक्तिके मार्गको तय न कर सकेगा। प्रत्येक बातमें आप यही पायेंगे कि श्रद्धाके बिना कोई काम नहीं बनता। व्यापार आदिकके कामोंमें भी जब आपको उनमें श्रद्धा है तो उन उन कार्यों को कर सकेंगे अन्यथा नहीं। अब आप सोचिये कि हमें चाहिए क्या ? हमें चाहिए शान्ति। यदि पहिलेसे ही यह न सोचें कि हमें शान्ति चाहिए तो फिर शान्ति मिलेगी कहाँ से ? शान्ति कहीं बाहरी चीजसे न मिलेगी, शान्ति मिलेगी अपने आपसे। वह शान्ति मिलेगी कैसे ? वह शान्ति मिलेगी अपने आपकी ओर झुककर। तो शान्तिका यह खुद धाम है, शान्तिका स्वरूप है। इसकी पहिले श्रद्धा करें तो शान्ति प्राप्त होगी अन्यथा नहीं। सुख कहाँ है ? इस बात पर खूब विचार करलो।

सुख न परिजनोंमें मिलेगा, न धन वैभव आदिकसे मिलेगा, न अन्य किन्हीं बाह्य वस्तुवोंसे मिलेगा। सुख मिलेगा अपने आत्मस्वरूपके स्मरणसे। जो वीतराग सर्वज्ञदेव हुए हैं जिन्होंने परम शान्तिधामको प्राप्त किया, वे हमारे लिए आदर्श रूप है। ऐसी श्रद्धा हुए बिना शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते? तो मुझे बनना क्या है? इसका उत्तर पानेके लिए जिसपर दृष्टि जाय वही आदर्श कहलाता है। जैसे सगीत सीखने वाले लोग पहिले किसी प्रसिद्ध संगीतज्ञको लक्ष्यमें रखकर उसके प्रति श्रद्धा रखते हैं, तब वैसा संगीतज्ञ बन पाते है। इसी प्रकार वीतराग सर्वज्ञदेवको लक्ष्यमें रखकर, उनकी श्रद्धा करें तब हम आप शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। वे प्रभु सम्यक्त्वकी साक्षात् मूर्ति हैं, उनके समान आदर्श हमें यहाँ कहाँ मिलेगा? उस परमशान्तिके मार्गमें जो साधुजन चल रहे है उनकी हम आप उपासना करते है। वे गुरु कैसे हैं? वे हैं निर्विकार, निष्परिग्रह, समताके पुञ्ज, जिनके पास पिछी, कमण्डल और शास्त्र इन तीन उपकरणों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी परिग्रह नहीं है, केवल आत्मतत्त्वमें ही जिनका श्रद्धान बना हुआ है, वे हमारे गुरु हैं, उनकी उपासनामें लगे। तो इस आजके रूपकमें हम आप यही शिक्षा ले रहे हैं कि हम आप सभी धर्मका पालन करें। इस धर्मके प्रतापसे ही संसारके समस्त सकट टलेंगे। आप केवल दो ही भावनायें बनाये रहें तो दुनियाकी समस्त झंझट छूटेंगे। एक तो यह श्रद्धा बनाये रहो कि मैं अकिञ्चन हू, मेरा जगतमें कहीं कुछ नहीं, है, सबसे निराला हू, और दूसरी श्रद्धा यह बनाये रहो कि मुझमें केवल ज्ञान ही ज्ञान नजर आ रहा है। ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ नहीं नजर आता। यह ज्ञान ही हमारे साथ जायगा अन्य कुछ नहीं। मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हू, यह प्रतीति यदि रहेगी तो संसारके सकटोंसे अवश्य ही पार हो जायेंगे। इस ज्ञानकी वृद्धिके लिए जो स्वाध्याय, सत्संग आदिक उपाय बताये हैं उनके द्वारा अपने ज्ञानकी वृद्धि करें और ससारके समस्त संकटोंसे छुटकारा प्राप्त करें।

स्वयंकी यथार्थ श्रद्धामें सकटोंसे छुटकारा—हम आप सब कोई जानने देखने वाले पदार्थ हैं, और जो हम हैं सो ही हम हैं, जो आप हैं सो ही आप हैं। अपनेसे बाकी सब निराले हैं। सबसे निराला मैं एक जानने देखने वाला पदार्थ हू। जिसको यह श्रद्धा नहीं है वह इस समय भी दुःखी रहता है और आगे भी जन्म मरण बढायेगा। बात अगर ऐसी ही है तो श्रद्धा करनेमें कौनसी आपत्ति है? खूब निरख लो, इन इन्द्रिय व्यापारोंको बन्दकर अपने अन्दर परख लो कि मैं क्या हू? जानने देखने वाला पदार्थ हू और सबसे निराला हू, अब इसके खिलाफ कुछ हम विचार बनाते हैं

तो वहाँ आकुलतायें होती हैं। सत्य बात यह है, अन्यथा बतलावो कि अनन्त भव प्राप्त किए, उन अनन्त भवोंकी आज कुछ भी चीज साथ है क्या? क्या ये स्त्री, पुत्र, धन, सम्पदा आदिक उन अनन्ते भवोंमे साथ न थे? थे, पर आज वे साथ हैं कहा? इसी तरह जो समागम आज प्राप्त हैं वे भी कुछ समय बाद साथ न रहेंगे, क्योंकि वे मेरे हैं ही नहीं। तो अब वे क्या हमारे हैं? न पहिले थे, न आगे रहेंगे और अब हैं तो क्या हैं? खूब परख करके देखो। इसी के मायने हैं धर्म। यदि यह बात श्रद्धामें आ गयी तो यह धर्म संसारसे नियमसे पार कर देगा। जिनकी हम पूजा करते हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव, सिद्ध महाराज, बस वही स्वरूप हमारा बन जायेगा, सदाके लिए सब टोंसे छूट जायेंगे पर यहाके समागमों में कोई लाभ न होगा। यदि सत्य श्रद्धा अपनी बनायें तो अपने आपको लगेगा कि मेरा आत्मा अमूर्त है, निर्भार है। अभी आत्माके स्वरूप से बाहर दृष्टि जा रही है तो सारा बोझ लग रहा है। बड़ी आकुलतायें हो रही हैं, कुछ मार्ग नहीं दिखता है। और जिस काल अपने आत्मा की सच्ची सुध हो जायेगी कि मैं आत्मा सबसे निराला केवल जानन देखनहार हू, ऐसी पक्की श्रद्धा हो जाय तो उसी समय आप बोझसे मुक्त हुआ सा अनुभव कर लेंगे। किसीके स्नेहमें बहुत बड़ी चितायें शोक अनेक दबाव दिलपर हैं, किन्तु जिस कालमें जान लिया जायेगा कि मेरा तो कुछ है ही नहीं, मेरा तो मात्र जानने देखने वाला यह मैं आत्मा हू, बस आपका बोझ तुरन्त हट जायेगा। बात करनेकी यही है।

अन्त स्वतत्त्वकी उपासनाके साहसमें आत्मलाभ—भैया! आपको अपने को अकिञ्चन निर्भार अनुभवनेमें थोड़ी आपत्ति यह आयेगी कि गृहस्थ होनेके कारण सदा तो यह भाव बना नहीं सकते, जिनका जो व्यवसाय है उनका अनेक लोगोंसे सम्पर्क रहेगा, उनके संग बोलचालका व्यवहार रखना पडेगा वहा गृहस्थ उस भावनासे चिग जायेगा। तो एक यह आपत्ति आती है, लेकिन हिम्मत बनाकर कोई अगर यह सोचले कि मुझे किसी की दृष्टिमें बड़ा नहीं बनना है। जिनकी दृष्टिमें हम बड़ा कहलवाने की बात सोचते हैं वे स्वय मोही हैं, मलिन हैं, कर्मोंके प्रेरे हैं। उनके बीच बड़ा कहलवाने की बात सोचने से कुछ भी लाभ न मिलेगा। हां, यदि बड़े होवें तो अनन्त सिद्ध भगवानके ज्ञानमें बड़े होवें, उससे हमें लाभ है। गावोंमें जिलोंमें, देशमें सबके बीच में बड़ा कहलाऊँ—इतनी इच्छा भर की कि वह धर्मके मार्गसे विमुख हो जायेगा। उसे फिर धर्मकी प्राप्ति नहीं होगी। धर्मका लाभ तब है जब यह विश्वास हो कि मैं सबसे निराला हू। धर्मके कामके समय धर्मकी ही बात दृढ़तासे रखिये—रोजगारके समय रोज-

गारके काममें दृष्टि हो, लेकिन जब हमारी धर्मसाधनाकी दृष्टि बनी हुई हो उस समय हम केवल धार्मिक भावनाएँ करें। कितने ही आज्ञाकारी स्त्री पुत्रादिक हों, कैसा ही बड़ा सुन्दर व्यवहार रखने वाले पड़ौसी हों, सभी मुझसे अत्यन्त निराले हैं। कितने निराले जितने कि दुनियाके गैर जीव हैं। जब धार्मिकताकी धुनमें आ रहे हों तो बड़ी दृढ़तासे ऐसा अपना पक्का निश्चय रखना चाहिए कि मैं आत्मा अमूर्त हूं, निर्भार हूं। इस अन्तस्तत्त्वकी उपासनाके प्रसादसे जो आत्मा निर्भार बनते हैं उनको चारणऋद्धि प्रकट होती है और वे अनेक प्रकारसे आकाशमें विहार करते हैं। उनका आत्मा नि' ार हो गया है और ऐसे विशिष्ट धर्मका: पवित्रता का अभ्युदय हुआ है कि वे आकाशमें विहार करने लगते हैं। लोग तो यंत्र लेकर आकाशमें विहार कर सकेंगे, लेकिन जो ज्ञानमात्र अकिञ्चन केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप अपने आपका ध्यान करता है और उसकी धुन रखता है तो कुछ समय बाद उसमें चारणऋद्धि उत्पन्न होती है। ऐसे चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वरोंका मैं वन्दन करता हूं।

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्मवाचक परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीज सर्वतः प्रणिदध्महे ॥११॥

अपने परमपदको भूलनेसे होती चली आई एक विडम्बना—लोकमें सर्वोत्कृष्ट पद है सिद्धपद। अपने आपके आत्माके नाते से आत्माका विचार करें। यह जीव क्या करता आया है अब तक? जन्ममें और स्वप्नवत् समागम पाकर उनमें रागद्वेष मोह किया, लड़ाई दंगे, झगड़े, चिंता, शोक किये। जैसे-जैसे जिन्दगी व्यतीत हुई, बस फिर मरण किया। फिर कहीं जन्म लिया। यों जन्ममरणकी परम्परा करते चले आये। जैसे दूसरे के बारे में लोग सोचते रहते कि यह अच्छा रोजगार कर रहा है, यह अच्छा कामकाज चला रहा है, यह गरीब है, यह अमीर है आदि। तो यहां चाहे कोई भी हो, सभी एक बात करते हुए आ रहे हैं, जन्मे, दु:ख भोगे और मरे। कदाचित जीवनमें थोड़ा बहुत माना करता है यह जीव भ्रमवश कि मुझे बड़ा सुख है, लेकिन सुख कहां है? आकुलता तो साथ लगी है, खूब निरखलो। खूब कमा रहे हो, खेती अच्छी हो रही हो, घर भी अच्छा बना हो, भोजन पानकी अच्छी सुविधा हो, फिर भी अनेक प्रकारके सम्मान अपमान आदिकके अनेक विकल्प बनाकर रात दिन दु:ख ही दु:ख भोगे जा रहे हैं। एक भ्रमसे मान लिया कि हमें बड़ा सुख है, पर सुख काहेका और वह कल्पित सुख भी अगर स्थिर रहता तो भी कहते कि चलो भाई इसमें ही मस्त हो लो, लेकिन ये भी तो स्थिर नहीं रहते। खूब इन लौकिक सुखोंकी परख करलो। कितने ही सुख इस जीवनमें अब

तक भोगे पर उन सुखोंके बाद बुरे दिन अवश्य देखने पड़े होंगे और अब इन सुखोंके भोगने वालों को आगे चलकर बुरे दिन देखने होंगे। इसमें रंच भी सन्देह नहीं। यदि सुख भोगने में राग है, उन्हें अपना सर्वस्व समझा है तो निश्चित है कि दुःखके दिन देखने होंगे। खूब सोच लो—ज्यादासे ज्यादा आराम और सुखके साधन जिस किसी को भी मिले हुए हैं—मान लो बड़े आज्ञाकारी परिजन हैं, पर वे बूढ़े न होंगे क्या? उनके शरीरके अंग शिथिल न होंगे क्या? होंगे वृद्ध, होंगे शिथिल, तब फिर उनके द्वारा प्राप्त सुख सदा बना रहेगा क्या? सदा तो न बना रहेगा। कोई ऐसा तो है नहीं कि खूब मौज मानकर सुखका स्टाक बना लिया है और अब वृद्धावस्था तक उस सुखको लूटते रहेंगे। यदि कुबुद्धि है तो यह निश्चित है कि संसारके सुखोंमें यदि आसक्त हुए तो नियमसे खोटे दिन देखने होंगे। ज्यादासे ज्यादा एक भवकी खैर हो जाय, लेकिन अगले जन्ममें कौन साथ दे देगा? यहाके कोई लोग मदद न कर देंगे। यहां जैसे जो कुछ भाव बनाया उसके अनुसार वहां फल भोगना पड़ेगा। तो संसार के ये प्राणी अब तक केवल एक ही काम करते चले आ रहे हैं—जन्म मरण करके दुःख भोगना। आज भी उसी सिलसिले में वही एक काम है? कोई नया काम नहीं है। जन्मे थे, दुःख भोगे, मौजकी कल्पनामें वहां भी दुःखी थे। समय गुजरेगा, मरण होगा, फिर जन्म होगा।

आत्मस्वरूपके यथार्थ विश्वाससे इस मानव जीवनका साफल्य—अरे भाई! इन समागमों को असार जानकर ये मेरे कुछ नहीं हैं ऐसा समझ कर एक इस भवमें ही सम्यक्त्व उत्पन्न कर लिया जाय, सच्चा विश्वास बना लिया जाय, अपने आत्मामें अपने आपमें विराजमान सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन तो कर लीजिए, अनुभव तो कर लीजिए। ये कोई लोग साथ न देंगे। आपका ज्ञान बन जायेगा, आपको सम्यक्त्व मिल गया, आपका धर्म आपको मिल गया तो वह सहायक होगा, अन्य नहीं जो जीव अब संसारसे छूट चुके। जिन्हें सिद्ध कह रहे हैं वे भी हम आपकी तरह जन्ममरणकी परम्पराके दुःख भोग रहे थे, लेकिन उन्होंने कौनसा उपाय किया कि संसारके समस्त संकटोंसे सदाके लिए छूट गए? उन्होंने अपने आपकी श्रद्धा की। अपने आपकी बात रोज रोज भी आप सुने तो शब्द यद्यपि वे ही रोज-रोज कुछ हेरफेरके साथ बोले जाते हैं, कुछ थोड़ेसे नये शब्द आ जाते हैं, पर रोज रोज आपको एक नई बात सी लगती है और दिलको शान्ति देने वाली बात लगती है। बात उतनी ही है, तत्त्व उतना ही है, आत्माकी बात कही जा रही है पर यह आत्माका कथन आपको रोज स्वादिष्ट लगता है। अच्छा, हम आपसे एक बात पूछते हैं कि आप रोज-रोज अपने घर दाल, रोटी, चावल खाते हैं तो उससे आप

ऊब जाते हैं क्या ? आप तो रोज-रोज बड़ी रुचिसे खाते हैं और रोज एक नया सा स्वाद लगता है। खाते-खाते न जाने कितने वर्ष बीत जाते हैं पर रोज-रोज एक नया सा स्वाद लगता है। ऐसे ही आपने मानो आत्माकी बात खूब दिल भरकर सुन ली, लेकिन आज आत्माका नाम लेते ही दृष्टि अन्दर पहुचती है और एक विचित्र आनन्द मिलता है। क्योंकि बीचमें २२, २३ घंटे गुजर गए। जहां विषय साधन पाप आदिक मे दृष्टि लगाई जिससे अपने आपको भूल गए और सुख है अपने आपके स्मरणमें। उसका स्मरण आज हो रहा तो आज आनन्द मिल रहा है। तो आत्माकी बात जो सुनता है और सुनकर कुछ भीतर जानना भी चाहता है, जान भी लेता है, उसकी जानकारी इतनी स्पष्ट हो जाय कि जब दृष्टि फिरे तब ही आत्माका सुख साक्षात् निरख लें। इतना विशिष्ट अभ्यास बने तो उससे जीवन सफल है।

अपना सत्य शरण—धर्मका शरण ही एक सत्य शरण है बाकी तो सब मायारूप चीजें हैं। एक यह निश्चय रखिये और ऐसा ही परस्परका वातावरण बनायें कि धर्ममें रुचि जगे, धर्मकी प्रीति हो, ऐसा अगर कर सके तो आप सच्चे मित्र बने, दूसरेके सच्चे बंधु बने, अन्यथा तो ये स्त्री पुत्र पशुवोंके भी हुआ करते, कोई खास बात नहीं है। रही एक धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठा आदि बढ़ानेकी बात तो ये तो सब अस्थिर चीजें हैं, इनको छोड़कर मरण करके चले गए, या ये खुद ही हमारे देखते-देखते ही नष्ट हो गए। ये प्राप्त समस्त समागम बिछुड़ेंगे अवश्य, इसमें कोई संदेह नहीं। तब फिर ऐसे असार संसारमें हम क्या ऐसी मोहकी, प्रमादकी नींद में सोये रहें ? उससे मेरा उद्धार हो जायेगा क्या ? अपने पुराण पुरुषोंके जीवन चरित्र देख लीजिए। हनुमान, राम, तीर्थंकर आदिक अनेक महा-पुरुष हुए। उन्होंने जीवनमें बड़े ठाठ बाट भोगे, जिनका एक क्षत्र राज्य रहा। बड़े बड़े राजा महाराजा जिनके चरणोंमें झुकते रहे और अनेक देवोंके द्वारा जो सेवित रहे, फिर भी उन्हें अपने जीवनमें कुछ सार नजर न आया। बड़े बड़े चक्रवर्ती, तीर्थंकर, आदिकको उनमें कुछ शान्ति न मिले और सब कुछ छोड़ छाड़ कर केवल आत्मतत्त्वकी उपासनामें रत हुये वहीं उन्हें शान्ति मिली। मूलतः समस्त कर्मोंका विध्वस किया और सदा के लिए संकटोंसे छूट गए। तो लोकमें सबसे उत्कृष्ट पद है तो एक सिद्ध भगवानका है।

परम हितकारी सिद्धपदकी प्राप्तिका आधारभूत् उपाय—परम हितकारी सिद्ध पदकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? वह उपाय है आत्माके सहजस्वरूप की दृष्टि होना। मैं हू ना। हू तो अपने आप हूं या परकी दयासे हू। खूब

निर्णय कर लीजिए। आपका अस्तित्व है? है अपने आप है, दूसरेकी दयाके कारण नहीं। स्त्री पुत्र मित्रादिकके कारण आपकी सत्ता नहीं। आप हैं अपने आप। जब मैं हूं और अपने आप हूं तो मैं स्वयं अपने आप। जो हूं बस उसे निरख लीजिए। इतनी ही बात है धर्मपालनके लिए। मैं जो कुछ हूं अपने आप केवल उसको निरख लीजिए। शरीर नहीं है आप जो रागद्वेषादिक विकार उत्पन्न होते हैं वे नहीं हैं आप। आपका सहज स्वरूप क्या है? केवल एक ज्ञानपुञ्ज है जाननमात्र। केवल जानन मात्रके रूपमें अपने आपको निहार लीजिए। मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं। बात कुछ ठीक जच रही है क्या? इस समय कुछ नहीं लग रही क्या? न लग रही हो तो फिर ध्यान दें, तिस पर भी न लगे तो बाहरकी इन चीजोंमें जो मोह फसा है, जिनसे लगाव लगा है, जिनको चित्तमें बसाये हैं उनका ही सही-सही स्वरूप जान लें। यदि आत्माके सहजस्वरूपकी बात जानना कठिन लग रहा है तो जहां आप हैं, जिस बीच आप रहते हैं, जो आपके आसपास हैं उनका सच्चा स्वरूप आप जान लें। कबसे साथ हैं। कब तक साथ रहेंगे और इस समय भी क्या कुछ मदद दे देंगे? सिर दर्द करने लगे तो उसमें भी मदद करने वाला कोई नहीं। तो जब इस दुनियामें कोई मददगार नहीं है तो मुझे किसी की क्या आशा करना? मैं अपने आपको देखूं, ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभवूं और अपना कल्याण प्राप्त करूं। यह काम करना है। अभी तक क्या काम करते आये? जन्मे मरे, दुःख भोगे। जन्म मरणकी परम्परा बनाये रहे। इसमें कुछ सार नजर न आया तो अब क्या काम करना है? मैं अपने आप सहज जैसा हूं वैसा जानना है, वैसा दृष्टिमें लेना है। बस यही काम करना है।

आत्मपौरुषकी ज्ञानसाध्यता—मैं अपनेको जानूं और उसमें मग्न होऊं यह पराक्रम, यह ज्ञान ज्ञानसाध्य है। शुद्ध ज्ञान जगे, पवित्र ज्ञान जगे, आत्महितकी भावना उठे कि इस असार संसारमें मुझे किसी भी प्रकार नहीं रहना है, बड़े विषयोंके साधन मिलें, उनके बीच भी नहीं रहना है। यह संसार रहनेके लायक नहीं है। संसारका अर्थ यहाँ शरीरसे है। ऐसे-ऐसे शरीर मिलते जाते हैं, इन शरीरोंमें मुझे नहीं रहना है, उनसे न्यारा मुझे बनना है। ऐसी एक भीतरमें तीव्र आत्मीय भावनाकी बात तो जगायें। ज्ञानके द्वारा साध्य है यह बात कि अपने आपका जो सत्य सहज स्वरूप है उसके दर्शन हो सकते हैं। यह बात अगर कर ली गई तो समझिये कि जैसे धूलमें हीरा होता है वह भीतरमें जगमगाता हुआ, बड़ी कीमत रखना हुआ बड़ा महत्त्वशाली है। इसी तरह समझिये कि देहातमें,

गाँवमें, किसी भी जगह रहते हुए हम एक शुद्ध ज्ञानरत्न हीरा हैं, सर्व श्रेष्ठ हैं यह बात अपने आपमें पा लीजिए। कोई लोग बढ़ रहे हों दुनिया की निगाहमें बड़ी प्रगतिके साथ तो वे बढ़ें, और योग्यताके कारण यदि इस तरहका हमारा बढ़ाव होता है सहज तो इसमें हमें कुछ हरज नहीं, लेकिन हमारी इन दुनियावी बढ़ावोंसे आस्था गिर गई, इनसे हमारा कल्याण होगा, यह बात कभी भी सम्भव नहीं। मेरा बढ़ाव, मेरा उद्धार, मेरा कल्याण मेरे अपने आपके जाननेसे और अपने आपमें ऐसा समाते जानेसे कि किसी भी पर-चेतन अचेतनका विकल्प न हो, लगाव न हो, मोह न रहे, ऐसी निर्मलता जगे, वहाँ हम आपका उद्धार है।

ज्ञानतत्त्वका ज्ञान बनाये रहनेके उपायोंमें प्रकृत एक उपाय—ज्ञानके जगनेके लिए और भी अनेक उपाय किए जाते हैं–पढ़ना, स्वाध्याय करना, ध्यान जमाना, जाप जपना। यहाँ इस छंदमें एक अर्हं, इस मंत्रके ध्यानके लिए दृष्टि दिलाई गई है। जैसे णमोकार मन्त्रमें णमो अरहताणं, पढते हैं तो इसमें अर्हं यह अक्षर आत्मस्वरूपका वाचक है। शुद्ध सहज अविकार प्रखर ज्ञानज्योति पिण्ड इस अंतस्तत्त्वका वाच्य है, उस अर्हं का जाप कीजिए। वह क्या है? साक्षात् ज्ञानज्योति पुञ्ज। जैसे कि जिस चीज को हम रोज-रोज जानते हैं, चौकी, घड़ा, कोट आदिक, वे चीजें तो चीजें हैं ही, किन्तु उनका नाम बोला जाय तो उस नाममें भी हमें वही चीज समाई-हुई दिखती है, ऐसा दृढ़ अभ्यास हो गया है इन बाह्य पदार्थोंकी जानकारीमें। इन पदार्थोंका नाम लेते ही नाममें वह पदार्थ समाया हुआ सा दिखता है। पत्थरका जो नाम है वह नाम लेते ही पत्थर रंगा हुआ सा है ऐसा चित्तमें समाया हुआ है। तो अब यहाँ यह कह रहे हैं कि 'अर्हं' यह सहज परमात्मतत्त्वका वाचक है। अविकार ज्ञान पुञ्जका नाम है अर्हं। तो उस अर्हं नाममें ही वह ब्रह्मस्वरूप समाया हुआ है। मैं सम्पूर्ण आत्मा मेरी दृष्टिमें आ गया हूँ तो अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु याने समतापरिणाममें बढ़े हुए जीव। परमेष्ठीका और दूसरा कुछ अर्थ नहीं, जो रागद्वेष न करते हों, मोह, अज्ञानका अंधेरा जिनके नहीं है, जो ज्ञानज्योति स्वरूप आत्मतत्त्वकी निगाहमें निरन्तर बसे रहा करते हैं। उन आत्माओंका नाम है अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये सब समाधिके नाम हैं, समाधि परिणामके नाम हैं। समाधिभक्त पुरुष अपने आपमें समाधिपरिणामके जागृत करने के लिए जापके द्वारा मन्त्रके द्वारा, परमेष्ठियोंके स्तवनके द्वारा, उनके ध्यानके द्वारा, अपने आपमें रागद्वेष मोहके अंधेरेको हटाकर अपने आपको ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभूतिमें रखना चाहता है, यही एक मात्र सारभूत काम है। अपना यह ध्येय, यह

लक्ष्य न छोड़िये। आप तीन लोकके अधिपति होंगे। यह वैभव तो क्या चीज है? सदाके लिए शान्त बन जायेंगे। यहाँके सुख तो असार हैं। तो ऐसा जो आत्माका सहज स्वरूप है उस स्वरूपमें अपनी दृष्टि करें, उससे ही इस आत्माको शान्ति प्राप्त होगी।

आनन्दकी सहजता और क्लेशकी कृत्रिमता—अपने आपमें अपनी अन्त दृष्टिसे देखे तो विदित होगा कि दुःखी कोई नहीं हैं, लेकिन दिखनेमें व त यों आ रही है कि सभी लोग दुःखी हो रहे हैं, दुःखकी कहाँ गुञ्जाइश है? यदि सच-सच बात समझी जाय, अपने आपके ठीक स्वरूपकी बात पहिचानी जाय तो दुःख कहीं है ही नहीं। लोग इसमें दुःख मानते हैं कि मेरी आय कम है अथवा यह मकान टूट गया अथवा शरीरमें कोई रोग हो गया या यह पुत्र उलटा चलता है—ये जो जो कुछ भी बातें मानते हैं उन्हें दुःखका कारण मानते हैं, लेकिन ये दुःख हुए हैं अपने आपके ऊधमसे, दुःख जरा भी नहीं है। तुम तुम हो, बाकी सब पर हैं, उनका ज्ञानमें सम्बध नहीं, न सदा साथ रहना है, न साथ कहींसे लाये हैं, बिलकुल भिन्न द्रव्य हैं। उनको यहाँ भीतरमें अपना रहे हैं कि ये मेरे हैं, ये मेरे कुछ हैं। इतनी सी बात मनमें आयी कि दुःखका पहाड़ सिर पर आ गया, भीतर देखो तो दुःख है नहीं। स्वरूपमें देखो तो कोई क्लेशका कारण नहीं। सब हैं, मैं भी हू, इसमें कष्टकी कौनसी बात? लेकिन इस ममता पिशाचिनीने इस जीवको परेशान कर दिया है। ममता हटे तो दुःख अभी हट जाय। ममता नहीं हटती है तो उसे दुःख बना रहता है, सिद्ध भगवान हुए हैं तो उनमें और बात क्या आयी है? विकार सब हट गए, प्रभु बन गए, जिनकी हम पूजा करते हैं उनमें और बात क्या आयी? वे निर्विकार हो गए, बस निर्मोहताकी बात यहाँ भी देख लो, गाँवमें पड़ौसमें जो पुरुष निर्मोह होता है उसकी ओर सबका आकर्षण होता है। तो निर्मोहता पूज्य है और निर्मोहतामें क्लेश नहीं है। मोह करके हम अज्ञान बढाते हैं, अपनेको दुःखी करते हैं, दूसरेको दुःखी कर डालते हैं।

गृहस्थमें निर्मोहताकी सम्भवता—आप कहेंगे कि यह तो बड़ी कठिन बात है। गृहस्थीमें रहकर भी क्या मोह हटाया जा सकता है? हाँ, गृहस्थ भी मोहसे दूर रह सकते हैं। घरमें रहकर भी घरकी सारी व्यवस्थायें बनाये, मोह न करे यह बात सम्भव है, क्योंकि मोह नाम है अज्ञानका। जहा निज और परका सही ज्ञान नहीं है बस वहां मोह है और जहा यह बोध हो गया कि मैं तो ज्ञानमात्र हू, सबसे निराला हू, केवल ज्ञान ज्योति पिण्ड हू, ऐसा अगर ज्ञानमें आ गया तो फिर वह तो ज्ञानमें आ ही गया। अब उसे मेटें कैसे? वह तो ऐसा ही ज्ञानमें रहेगा, अब उसको

मोह कहांसे आये ? मोह नाम प्रेमका नहीं है, मोह नाम है स्व और परमें अन्तर न समझनेका। प्रेमको तो राग कहते हैं। गृहस्थीमें रहकर राग नहीं छोड़ा जा सकता। राग छूट जाय तो गृहस्थीमें रहे नहीं, पर मोह छूटकर भी गृहस्थीमें रह सकते हैं और जहां मोह छूटा वहां आकुलताकी जड़ तो मिट गई। जिस किसी भी समय कैसी भी विपत्तियाँ आयें, उन विपत्तियोंके बीच भी यह धैर्यवान रह सकता है। जहां इसने अकिञ्चन ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपकी झलक की, बस सारे संकट तुरन्त विदा हो जाते हैं।

निर्मोह गृहस्थकी महिमा—निर्मोह गृहस्थकी तो ऐसी महिमा बताई गई है कि निर्मोह गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें है, पर मोही मुनि मोक्षमार्गमें नहीं है। मोह करने के अनेक ढंग हैं, पर मूलमें एक ही ढग है। अपने आपकी पर्यायको, परिणमनको, विकृत परिणमनको 'यह मैं हूं' ऐसी जहाँ दृष्टि गई बस मोह कहो, मिथ्यात्व कहो, अज्ञान बन जाता है। जिन्होंने घर छोड़ दिया, धन छोड़ दिया, जंगलमें रहते हैं ऐसे साधुजनोंकी बात नहीं कह रहे, किन्तु जिनके मिथ्यात्व लगा है, कौनसा मिथ्यात्व लगा है ? मैं मुनि हूं, मुझे इस तरह रहना चाहिए, ऐसा तपश्चरण करना चाहिए, मुझे किसीसे रागद्वेष न करना चाहिए, मुझे जीवदया पालना चाहिए आदि इस प्रकारकी बातें यद्यपि ठीक हैं लेकिन अन्दरमें विष तो देखिये—यह यह ज्ञान नहीं कर पा रहा है कि मैं तो एक अमूर्त ज्ञानज्योतिमात्र हूं, मुनिकी यह एक परिणति है, बीचमें आयी है। यह मैं नहीं हूं, यह तो एक स्थिति है, मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूं यह भाव नहीं बन पाता है और पर्यायमें आत्मदृष्टि रहती है जिससे वह मुनि संसारमें रुलता है और एक गृहस्थ जो घर गृहस्थीके बीच रह रहा हो और यह भावना रख रहा हो कि मेरा तो ज्ञानस्वरूप है, मेरा मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ऐसी जिसकी प्रतीति रहती है वह गृहस्थ स्त्री पुत्रादिकके बीच रहकर भी स्त्रीसे बोलता हुआ भी नहीं बोलता, बच्चे को गोदमें खिलाता हुआ भी नहीं खिला रहा है।

गृहस्थ सम्यग्दृष्टिकी अन्तर्वृत्तिपर एक दृष्टान्त—एक सेठका कोई दो तीन वर्षका बच्चा था। सेठानी गुजर गयी थी और कोई घरमें था नहीं। सेठ भी मरणासन्न दशामें था। उसके पास कई लाखकी जायदाद थी। तो उस सेठने अपनी सारी जायदाद ट्रस्टियोंको सौंप दी और कह दिया कि मेरा बालक अभी छोटा है, जब १८-२० वर्षका बालिग हो जाय तो इसको सारी जायदाद सौंप देना। सेठ तो मर गया। वह दो तीन वर्षका बालक सड़क पर खेल रहा था। वहांसे एक ठग निकला। उसके कोई

संतान न थी तो वह उस बच्चेको अपने घर उठा ले गया। उसका घर था जगलमें। ठगनी भी उस बच्चेको पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। उस बच्चेको पाल-पोस कर तैयार किया। जब वह करीब १५ वर्षका हो गया तो एक दिन उसी नगरमें आया तो कुछ ट्रस्टियोंने उसे पहिचान लिया और कहा कि देखो—बेटे अब तुम सयाने हो गए, अपनी आयदाद सभालो, हम कब तक सभालेंगे? वह सुनकर आश्चर्यमें पड़ गया। सोचा कि हमारी जायदाद तो वह है जो जगलमें है। ये लोग तो हमें बहका रहे हैं। जब कई ट्रस्टियोंने बार-बार समझाया तो उसने सोचा कि ये सब देने देनेकी ही तो बात कह रहे हैं, सो उस लड़केने कहा—अच्छा, ठहरो, हम कुछ दिन बाद आकर अपनी जायदाद संभालेंगे। वह बालक पहुचा जगलमें और उस ठगनीके पैरोंमें गिरकर बड़े आर्तस्वरमें कहने लगा—मां! सच बताओ! मैं किसका बेटा हू? तो उस समय उस ठगनीके मुखसे सहसा ये शब्द निकल पड़े कि बेटे! तू तो अमुक नगरके अमुक सेठका लड़का है। तो इतनी बात सुनते ही उस बालकके चित्तमें स्पष्ट बात आ गई, पहिले भी कुछ ट्रस्टियोंने कह रखा था, अब यहा जिनमें फसा था, जिसे अपनी माँ मानता था उस मा ने भी बता दिया। अब उसे सही ज्ञान हो गया। ओह! मैं अमुक नगरके अमुक सेठका लड़का हू, मेरी लाखोंकी जायदाद है, इतना ज्ञान हो जाने पर भी क्या वह उस ठगनी को मा अथवा ठगको पिता न कहेगा? अथवा उस ठगके जो खेत, मकान आदि थे क्या उनको अपनी जायदाद न कहेगा? जो पहिले से कहता आया वह तो कहेगा, कोई उसके खेतोंमें पशु पक्षी नुकसान करें तो उन्हें भी वह हटायेगा, ठगको पिता तथा ठगनी को मा कहेगा, इतने पर भी उसका चित्त तो बिल्कुल बदल गया। उसे तो अपनी लाखों की जायदादका पता हो गया।

सम्यग्दृष्टिकी अन्तर्वर्तनाका आरम्भ—उक्त दृष्टान्तकी भांति ठीक यही हाल है सम्यग्दृष्टि पुरुषका। जब तक वह नाबालिक था तब तक इस शरीर को 'यह मैं हू' ऐसा मानता था, लोकमें जिन्हें माता पिता माना जाता है उन्हींको अपने माता पिता समझ रहा था। इस मान्यतासे उसका जीवन बड़ी दीन दशामें गुजर रहा था, इतने में कुन्दकुन्दाचार्य आदिक ट्रस्टी आकर समझाते हैं कि ऐ अबोध बालक! तेरी तो अनन्त जायदाद है, तू क्यों भ्रमवश दीन बनकर दु:ख सह रहा है। अरे तू अब अपनी इस जायदादको संभाल। भैया! हम आप लोगोंका कितना अच्छा सौभाग्य कहा जाय? वीतराग ऋषि सतोंकी वाणी हम आपको मिली हुई है। उस वाणीमें ऐसा तत्त्वका विवेचन है कि उसको यदि कोई परख ले तो उन

ऋषि संतोंका ऋण वह जीवनमें चुका नहीं सकता। तो उन ऋषिजनोंकी वाणी सुनकर वह स्वाध्याय करने वाला सोचता है—ओह! मेरी जायदाद तो यह है। दूसरे ग्रन्थोंका उसने स्वाध्याय किया। अनेक संतोंने वही बात समझाई। अब तो उसको सही बात समझमें आ गयी। सोचा कि ये ऋषिजन हमको आनन्द पानेका उपाय ही तो बता रहे हैं, ठीक ही तो ये कह रहे हैं। जिस विचारधारामें वह स्वाध्याय करने वाला पुरुष चल रहा था, उसी विचारधारामें ज्ञानानुभूति माँ से वह पूछता है कि सच बताओ कि मैं क्या हू? किसका हू, कैसा हूं? तो वही अनुभूति मां तुरन्त जवाब देती है कि तू तो यह है। लो उसके तुरन्त ज्ञानप्रकाश हो गया। अब यद्यपि वह घर गृहस्थीके बीच रह रहा है, जिन्हें अपने माता पिता कहता आया है उन्हें माता पिता भी कहेगा। उस जायदादको अपनी जायदाद भी कहेगा, उसकी रक्षा भी करेगा, इतने पर भी उसकी दृष्टि तो अपने अनन्त आनन्दके स्वरूप पर है। तो घर गृहस्थीके बीच ऐसी स्थिति हो सकती कि मोह न रहे, राग बना रहे क्योंकि मोह तो अज्ञानको कहते हैं। अज्ञान मिटा लीजिए, इसमे आपका क्या जाता है? सच्चा ज्ञान तो हर एक कोई करना चाहता है। अभी कोई थैला लेकर आ जाय तो उसके अन्दर क्या चीज है इसकी जानकारी किए बिना चैन नहीं पड़ती। बच्चों की तो प्राय करके यह आदत होती ही है। तो जैसे आप बाहरी बातोंकी जानकारी करनेके लिए उत्सुक रहा करते हैं, वैसे ही अपने आपके बारेमें जानकारी करने लगिये कि मैं क्या हूं? इस जानकारी के लिए स्वाध्याय कीजिए, स्वाध्याय करके मोह ममताको हटाकर अपना उद्धार कर लीजिए। इसीसे इस जीवनकी सफलता है।

कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मी निकेतनम्।
सम्यक्त्वा दिगुणोपेत सिद्धचक्र नमाम्यहम्॥१२॥

ज्ञानी ऋषि संतोंका परम इष्ट—ज्ञानी पुरुषको केवल समाधिभाव ही इष्ट है। रागद्वेषकी तरंग न उठकर केवल जानन देखनहार बने रहना, वीतरागता, समता बनी रहना, यही मात्र उसको प्रिय है। वह जानता है कि अन्दरमें किसी प्रकारकी कषाय जगी, किसी वस्तुमें राग उठा, किसी वस्तुके प्रति विरोधभाव जगा तो उसमें मेरी ही बरबादी है। इस कारण ज्ञानी पुरुषको केवल समताभाव ही प्रिय है और समता भावमें ही उसका निर्णय है कि मेरा उद्धार कर सकने वाला कोई है तो मेरा समता परिणाम है। समता परिणामसे स्वयको भी बड़ी शान्ति मिलती है और वातावरणमें आये हुए प्राणियोंको भी शान्ति प्राप्त होती है। राग द्वेषका उतना प्रभाव नहीं जितना कि समताका। समतामें एक अलौकिक प्रभाव

है। जिस समय श्रेणिक राजाने एक मुनिराजके गलेमें मरा हुआ साप डाल दिया द्वेषवश, तीन दिन बाद श्रेणिकने अपनी चेलना रानीसे कहा कि हमने तुम्हारे गुरुके गलेमे मरा हुआ साप डाला था तो चेलना कहती है तुमने बड़ा पापका बध किया। अरे-अरे वे तो मुनि किसी समय भी सापको फैंककर भाग गए होंगे ऐसा श्रेणिकने कहा। तो चेलना कहती है कि यदि वह वास्तविक जैन गुरु हैं तो उसे उपसर्ग जानकर कहींके कहीं विराजे होंगे। दोनो देखनेके लिए चले तो देखा कि गुरु वहींके वहीं विराजे थे। श्रेणिकके चित्तमें एकदम परिवर्तन हुआ और अपने पापकर्म पर बड़ा पछतावा हुआ। श्रेणिक सापको उठाकर निकालने को था कि चेलना ने उसे रोक दिया। इस तरह न उठाया जायेगा यह साप, देखो इस साप पर चींटिया चढ़ी हुई हैं, तो पहिले नीचे शक्कर बिखेर दी, वे सारी चींटिया शक्कर की गधसे नीचे उतर आयीं तब सांपको धीरेसे उतार दिया। जब मुनिराजने ध्यान छोडा और सामने खडे हुए उन दोनों को देखा तो कहा—उभयो धर्मबुद्धिरस्तु, तुम दोनों को धर्मबुद्धि हो। तो अब श्रेणिकपर और विकट प्रभाव पड़ा कि देखो—मैं उपद्रव करने वाला और यह चेलना उपसर्गके दूर करने वाली, फिर भी इन साधु महाराजकी दृष्टि हम दोनों पर एक समान है। न इनको चेलनासे राग है और न हमसे विरोध। उस समय श्रेणिकका इतना विशुद्ध परिणाम हुआ कि सम्यक्त्व जग गया। ससारके संकट सदाके लिए टाल देनेका निर्णय बना लिया। समतापरिणाममे इतना बड़ा प्रभाव है। स्वयको भी शान्ति मिलती है, दूसरेको भी। भैया! यदि कल्याण चाहते हो तो सदा यह प्रयत्न रखना चाहिए कि मेरे कषाय न जगें। कषायें मद रहें और दृष्टि यह रहे कि ये कषायें ही जीवका अनर्थ करने वाली हैं। यह मोह जीवका अनर्थ करने वाला है। यह मोह भाव विकार है, नष्ट हो जाने वाला है। इससे मुझे प्रीति नहीं करनी चाहिए।

समाधिभक्त द्वारा समाधिमूर्तिका वन्दन—समाधि परिणामका भक्त पुरुष यहाँ समाधिकी साक्षात् मूर्ति, समाधिके साक्षात् पुञ्ज सिद्ध भगवान का वंदन नमस्कार कर रहा है। मैं सिद्ध समूहको नमस्कार करता हू। यहा सिद्धचक्र शब्द दिया है। चक्र मायने समूह है, जैसे सिद्धचक्र विधान, याने सिद्धके समूहकी पूजा। तो मैं सिद्धचक्रको नमस्कार करता हू। कै हैं वे सिद्धप्रभु, अष्टकर्मोंसे रहित। इस जीवके साथ अष्टकर्मोंका द्रव लगा हुआ है। यहाँ थोड़ा-सा साधन पाकर उसमें मौज माना ना … बड़ी भारी मूढ़ता है, एक तो यह मौजकी चीज नहीं है, और कुछ मौज … हो कल्पित तो ये दो दिनकी बातें हैं और जितने दिन मौज मिला हुआ …

उतने दिन भी निरन्तर सुख नहीं है। एक दिनमे १०० बार अगर सुख होता है तो १०० बार दुःख भी होता है। चौबीस घटेमें कई बार तो यह जीव कुछ मौज सा मानता है लेकिन उससे अधिक यह दुःखका भी सामना करता है जहाँ आरम्भ और परिग्रह साथ लगे हैं तो वहाँ दुःखके साधन विशेष हैं, सुखका साधन कम है। यह सब क्यों हुआ ? कर्मोदयसे। तो यहाँकी थोड़ी विभूति मौज पाकर हम यह न मानें कि हम कृतकृत्य हो गए, मुझे सब कुछ मिल गया, अब हमें क्या करना है ? हमसे बडा कौन है ? यह बात बिलकुल भ्रमकी है, कुछ नहीं मिला है। जो मिला है वह दुःखका हेतुभूत है, हमारी बुद्धिको बिगाड़नेका कारण है, इस सम्पदासे मेरा पूरा न पडेगा। मेरा पूरा तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रसे पडेगा। अपने आपके आत्माके स्वरूपमे सत्य श्रद्धा हो, अपने आपके स्वरूपका ज्ञान हो और अपने आपमें रमनेका काम हो तो शान्ति मिलेगी। इस शान्तिको नष्ट करनेका कारण निमित्त है अष्टकर्म। प्रभु अष्टकर्मोंसे रहित हैं। अतः शान्ति समाधिके वे घनीभूत पुञ्ज हैं।

कर्मनिष्पत्ति— अष्टकर्म हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। जब यह जीव कषायभाव करता है तो उस ही समयमें इस जीवके साथ लगी हुई उम्मीदवार जो कार्माणवर्गणायें हैं वे तुरन्त कार्माणवर्गणा रूप बन जाती हैं। कोई मनुष्य पाप करे और ऐसा विश्वास रखे कि मुझे कोई नहीं देखता, मेरे पापको कोई नहीं जानता। मैं तो दुनियाके लिए भला ही हूं, लेकिन यह तो देखिये कि जिस समयमें कषाय भाव हुआ, पाप परिणाम हुआ उसी कालमें कितना खोटा कर्मबँध गया इसे कोई रोक दे तब जानें। तो किसी भी जगह हो, हमें पापसे भय करना चाहिए, किसीके दिलको दुःखानेका मेरा परिणाम भी न हो। किसीको मारा पीटा, उससे पापका बन्ध हुआ तो मारने पीटनेसे नहीं हुआ, किन्तु मारने पीटनेका भाव भी साथमें लगा हुआ है। उस भावसे पापका बध हुआ। तो फिर यदि कोई पुरुष मार पीट भी न पाये और मार पीटका भाव बना ले तो उसे पापका बंध हो जायगा। इससे भाव ही हमारे खोटे न जगें, ऐसा अपने आपका यत्न रखना चाहिए। किसी की झूठी गवाही दी, झूठ बोला, झूठ कोई बुरा नाम लगा दिया तो वहाँ जो परिणाम बिगाड़ा उस परिणामसे उसके कितना पापका बध होता है ? उसके उदयमें दुःख कोई दूसरा न भोगेगा यही, तो किसी की झूठी बात कहना, निन्दा करना, चुगली करना, अपयश करना आदि ये बहुत खोटे भाव हैं। इनमें जो पापकर्म बँध जाते हैं उनके उदयमे बहुत दुर्गति भोगनी पड़ती है और दुर्गति तो यह तत्काल

भोग लेता है जिस समय वह झूठ बात कहता है उसका दिल कमजोर होता है, वह चिन्ता और शोकसे आकुल व्याकुल रहता है। तो ऐसे ही किसी भी ढगसे चोरी करनेका परिणाम आया, दूसरेका धन अन्याय करके, दगा करके हड़प लेवे तो वे सब चोरीके ही भेद हैं। तो चोरी करनेका भाव करने मात्रसे जो अपने आपमें उम्मीदवार कार्माण वर्गणायें वैठी हैं वे कर्मरूप बन जाती हैं। तो यह भी कितनी कठिन बात है? याने कर्म जो बधे वे कहीं बाहरसे लाने पडे हों, यह बात नहीं है, किन्तु जीवके साथ जो कर्म बँधे वे भी रहते हैं और जो कर्म बँधनेके उम्मीदवार हैं, वे भी अनन्त वर्गणायें इस जीवके साथ बनी रहती हैं। जहाँ भी खोटे परिणाम किये वहाँ ही इस जीवको ये कर्म बँध जाते हैं। कुशील परिणाम पुरुष स्त्रीको देखकर बुरा भाव मनमें लाये अथवा स्त्री किसी पुरुष को देखकर मनमें बुरे परिणाम लाये, कामभाव लाये तो उस परिणामसे तत्काल खोटे कर्मोंका बध हो जाता है और उस कर्मके उदयमें फिर इस जीवको बड़ी दुर्गति सहनी पड़ती है। इसी तरह परिग्रह पाप है, तृष्णा करना, खूब धन आता है फिर भी उसकी चिंता रखना, इस भावसे विकट पापका बंध होता है। कोई यह न जाने कि मैं राजाका अपराध नहीं करता, देशका अपराध नहीं करता, किसी प्रकारका दूसरे पर अन्याय नहीं करता; सिर्फ अपना धन बढ़ाने की बात सोच रहा हू, किसी पर कोई उपद्रव तो नहीं ढा रहा हू, लेकिन इस परिणाममे भी पापका बध है, अज्ञान का पोषण है। जब बाह्यमें कुछ भी पदार्थ मेरे नहीं हैं तब इन दृष्यमान् पदार्थोंके सचयका भाव बनाय, इसमें तो वह अपने आत्माको भूल गया, परमात्मस्वरूपको तो भूल गया, उसको शान्ति कहाँ है? विकट कर्मका बन्ध है। तो ये ही कर्म बँधे हुए हैं जिनके उदयमें जन्म मरण करना पडता है, दुखी रहना पड़ता है। प्रभु ऐसे सब कर्मोंसे पूर्णतया रहित हैं। ये ही विस्रसोपचयरूप कार्माण द्रव्य जब कषायभाव करने से, मोहभाव रखनेसे फल देनेकी प्रकृति बन जाती है, उसके नाम पर कर्मके ८ भेद बताये गए हैं।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म—ज्ञानावरण यह जीवके ज्ञानपर आवरण करता है। जीव है ज्ञानस्वरूप। जीवका शुद्ध कार्य है जानना। जैसे अग्निका स्वरूप है गर्मी, गर्मी मिट जाय तो अग्नि रहेगी क्या कुछ? गर्मी न रही तो आग न रही। तो गर्मी आगका अभिन्न स्वरूप है, ऐसे ही जीवका अभिन्न स्वरूप है। उस ज्ञानको जो प्रकट न होने दे ऐसा निमित्तभूत हुआ। जिस कर्मके उदयसे ज्ञान प्रकट न हो सके उसको कहते हैं ज्ञानावरण कर्म। इस जीवमें जाननेका स्वभाव है। इन आँखों

योजक से इन आंखोंसे जानता हूं ऐसी बात नहीं। हां, थोड़ा निमित्त सहयोगी कारण तो है लेकिन यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपके द्वारा ही ज्ञान किया करता है। जहां इन्द्रियज्ञान मिटा, कर्मोदय मिटा ज्ञानावरण नष्ट हुआ वहां यह कितना जानेगा ? उस जाननेकी कोई हद नहीं रहती। जो भगवान हो गये, वीतराग सर्वज्ञदेव हो गए उनका ज्ञान अपने आप इतना विशाल हो जाता कि तीन लोक तीन कालमें जो कुछ भी है, भूतमें जो कुछ हुआ, भविष्यमें जो कुछ होगा, समस्त पदार्थ उनके ज्ञानमें स्पष्ट झलकते हैं। तो ऐसे असीम, ऐसे महान् ज्ञानको भी जो कर्म आवरण किए हुए हैं, वे कर्म हम पर लदे हैं, तो हम आपपर यह कितनी बड़ी भारी विपत्ति है ? दर्शनावरणके उदयसे आत्मामें दर्शनगुण प्रकट नहीं होता। दर्शनके मायने यह है कि जैसा आत्माका सही स्वरूप है उस स्वरूप के रूपमें एक सामान्य झलक आ जाना। तो उस दर्शनको जो कर्म ढांके है, जिस कर्मके उदयसे दर्शन प्रकट नहीं हो पाता, ऐसे जो दर्शनावरण कर्म हम आप पर लदे हैं यह हम आप पर विपत्ति है।

वेदनीय कर्म—वेदनीय कर्मके उदयसे सुख और दुःख पैदा होते हैं, संसारमें जो ये विषयोंके सुख हैं ये वेदनीय कर्मके उदयसे हुए, तो कर्मके उदयमें जो बात हुई वह भली हो ही नहीं सकती। तो यह इन्द्रियजन्य सुख दुःखरूप है, आत्माको शान्तिके कारणरूप नहीं है। इन सुखोंमें कितना अनर्थय है ? इन्द्रिय सुखोंके साथ आप बारीकी से विवेकके साथ निर्णय करें। निरन्तर दुःख लगे हुए हैं, झंझट तो निरन्तर साथ हैं। इन इन्द्रिय सुखोंमें एक क्षणको भी क्षोभ न रहे ऐसी स्थिति नहीं है। खूब परख कर लो। भोजन करते समय जो आनन्द लूटा जा रहा है, जिसमें बड़ा मौज माना जा रहा है उसमें भी देख लो, इसके भीतरमें क्षोभ पड़ा हुआ है कि नहीं ? उसी क्षोभके कारण हाथ चलता है। जल्दी जल्दी मुख चलता है। और पूरी तरह चबा भी नहीं पाते हैं कि उसे गुटकनेकी पड़ जाती है। कहाँ-कहाँ निगाह रहती है ? जो सामान बन रहा है उस सामानको देखकर अच्छा भोजन बन रहा है ? यों न जाने कितने क्षोभ मचाये जा रहे हैं ? स्पर्शनइन्द्रियके विषय सुखोंकी बात देखो उसमें भी निरन्तर क्षोभ बना रहता है। कोई रूप देख रहे हों जो बड़ा सुहावना लग रहा हो, तो उस रूपके देखनेके कालमें भी चैन नहीं, क्षोभ पड़ा हुआ है। राग भरे शब्द सुनते हुएमें भी सुनने वालेको चैन नहीं पड़ती, उसमें भी क्षोभ बना रहता है। प्रतिष्ठा, नामवरी कीर्ति फैलनेकी बात, इनमें भी निरन्तर क्षोभ चलते रहते हैं। तो संसारके सारे सुख क्षोभसे भरे हुए हैं। लोग तो यों कहते हैं कि थोड़े समयको सुख होता है, बादमें बहुत दुःख होता है,

लेकिन बात यह है कि थोड़े समयको भी सुख नहीं मिलता है, उस सुखके साथ क्षोभ लगा हुआ है। तो वेदनीय कर्मके उदयसे जो सुख होता है सो भी आकुलता है और जो दुःख होता है सो भी आकुलता है। तो ऐसी आकुलताका कारणभूत जो वेदनीय कर्म है वह हम पर विपत्ति है।

मोहनीय कर्मकी विडम्बना—मोहनीयकर्म यह जीव अपने सही स्वरूप में न रह सके, अपने यथार्थ स्वरूपका भान न कर सके और सुखमें मस्त रहा करे, इन सबका कारण यह मोहनीयकर्म है। मोहके उदयमें जीवकी बुद्धि उलट जाती है और इसे खोटा पथ सुखदायी मालूम होता है। यह बेचैन रहा करता है। तो मोहनीयकर्म हम आप पर लदे हुए हैं, यह हम आप पर बड़ी विपत्ति है। जैसे लड़ने वाली सारी सेनाकी जान राजा है, राजाके बलपर ही सेना अपना बल दिखाया करती है। इसी प्रकार ८ कर्मों का राजा मोहनीयकर्म है। मोहनीय कर्मके बलपर ही ये ७ कर्म अपना नाच नचा पाते हैं। जब मोमहभाव है तब सब प्रकारके सकट इस जीव पर आ गए। जब मोह नहीं रहता तो ये कर्म भी विदा होने लगते हैं। इन कर्मोंमें भी दम नहीं रहती और ये संकट भी दूर होने लगते हैं। इसी कारण आप जानते होंगे कि इन ८ कर्मोंमें सबसे पहिले मोहनीयकर्म नष्ट होता है तब बादमे ७ कर्म नष्ट होते हैं और मोहनीयकर्मके भी दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। जो आत्माका श्रद्धान बिगाड़ दे उसका नाम है दर्शनमोहनीय और जो आत्माको आत्मामें न रमाने दे, न ठहरने दे, चारित्रको बिगाड़ दे उसे कहते हैं चारित्रमोहनीय। इन दो कर्मोंमें दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय इन दो मे प्रबल है, भयंकर है दर्शनमोहनीय, जो श्रद्धाको ही बिगाड़ दे। जहा उल्टी बात मनमें हो वहा फिर वह सीधा काम कर ही न सकेगा। देहको 'यह मैं हू' इस प्रकार मानना यह दर्शन मोहनीयका काम है। जब इस जीवने शरीर को आत्मा मान लिया तब यह कोई सा भी काम सीधा नहीं कर सकता। जो भी काम करेगा सब उल्टा। जो भी व्यवस्था बनायेगा वह सारी उल्टी उल्टी बनायेगा, जिससे जीवकी बरबादी है। जन्म मरणकी परम्परा बढ़े, ऐसा ही काम करेगा दर्शनमोहके उदयमें।

दृष्टान्तपूर्वक दर्शनमोहनीयकी विडम्बनाका प्रदर्शन— एक बुढ़ियाके दो बालक थे, तो एक बालकको मोतियाबिन्द हो जाने से या फूली पड़ जाने से बहुत कम दीखता था और एक लड़के को दीखना तो बहुत तेज था पर पीलियाका रोग हो जाने से सब कुछ पीला दीखता था। [illegible] वह बुढ़िया मा अपने दोनों बेटोंका इलाज कराने के लिए वैद्यके पास गई। वैद्यने उन दोनों बालकों के नेत्र देखकर कहा—मा, हम तुम्हारे दोनों बेटों

की दवा करेंगे, इन दोनों बालकोंके नेत्र ठीक हो जायेंगे। अच्छा ठीक है। वैद्यने कहा—देखो, यह सफेद मोतीभस्म है, इस दवाको चांदीके गिलासमें गायके दूधमें मिश्रीमें मिलाकर इन दोनों बालकोंको पिला देना। थोड़े ही दिनोंमें तुम्हारे इन दोनों बालकोंका नेत्र रोग दूर हो जायेगा। बुढ़िया दवा लेकर घर आयी। घर पर जब दवा देने लगी तो जिस बालकको कम दीखता था उसने उस दवाको पी लिया और जिसे उल्टा दीखता था अर्थात् जिसे पीलियाका रोग था उसने देखा कि मां पीला गिलास लायी, उस पीले गिलास को देखकर मां से बड़ा द्वेष जगा, सोचा कि वैद्यने तो चांदीके गिलासमें दवा देनेको कहा था, पर यह तो हमें पीतलके गिलासमें दवा दे रही है। जब उस गिलासमें उस बुढ़िया ने दूध डाला तो उस बालकको और भी उस मा से द्वेष जग गया। सोचा—ओह! वैद्य ने तो दूधमें इस दवाको देनेके लिए कहा था, पर यह तो गाय भैंसके मूत्रमें दवा दे रही है। जब बुढ़ियाने मिश्री मिलाया तो उस बालकको अपनी मा से और भी अधिक द्वेष जग गया। सोचा—ओह! वैद्य ने तो मिश्री मिलाने को कहा था, पर यह तो विष डाल रही है। यों वह बालक उस अपनी मां पर जलकर आग बबूला हो गया। उसने दवासे भरे गिलासको फेंक दिया। दवा न पी। तो अब देखो—जिसे कम दीखता था वह तो दवा पी गया और उसके नेत्रोंका रोग दूर हो गया, पर जिस बालकको पीला (उल्टा) दीखता था, जिसे मीलों दूर तक दिखता था, उसने दवा न पी, जिससे उसका नेत्ररोग दूर न हो सका। तो इसी तरह कोई ज्ञानमें विद्या में बहुत बढ़ जाय, जो लौकिक विद्यायें होती हैं उनमें प्रवीण हो जाय। लेकिन निजका और परका यथार्थ ज्ञान नहीं है, आत्माके सत्यस्वरूपका बोध नहीं है तो उस जीवका उद्धार नहीं हो सकता। वह सत्य शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता, आकुलताओंसे परे नहीं हो सकता। उसके जन्म मरण नहीं टल सकते। इस कारण बड़े धैर्यकी पद्धतिसे गुप्त ही गुप्त पढ़ लिख कर स्वाध्याय करके अपने आपका सच्चा ज्ञान जगाना चाहिए। अपने आत्माकी झलक अपने को हो जाय तो उससे आत्माका भला हो सकता है। जो हमें सत्यपथकी श्रद्धा ही न करने दे ऐसा कर्म है दर्शन मोहनीय कर्म। यह निर्णय रखिये कि मुझ पर बड़ी आपत्ति छाई है, इसे दूर करेंगे तब शान्ति मिलेगी। कर्मोंके मेटे बिना शान्ति न मिलेगी। यहांके दो दिनके मौज क्षणभंगुर, फिर भी पर, उनसे हम क्या मौज मानें? अपने आपके दर्शन करें और सदाके लिए संसारके संकटोंको दूर कर दें, ऐसा अपने आपका निर्णय होना चाहिए।

वर्तमान समागमकी विडम्बना—हम आप जितने भी लोग हैं, यह सब

जो कुछ दिख रहा है और जिस सम्पर्कमें बात बन रही है वह सब क्या है ? ३ चीजोंका पिण्ड है यों समझिये जीव, कर्म और शरीर यहा। कोई खालिस जीव नहीं नजर आता है। स्वरूप खालिस है मगर जो बीत रही है उस बात पर दृष्टि दें तो खालिस कोई चीज नहीं है। खाली कर्म भी नहीं है, खाली देह भी नही है। ये तीन शामिल भये हैं उससे चलना फिरना बोलना समझना ये सारी चकाचौंध इन तीनके मेलमें हैं और इन तीनके मेलमें क्या दशा बन रही है सो परख लीजिए। आज हम मनुष्य हुए हैं, किसी दिनसे हुए हैं और किसी दिन तक रहेंगे, इससे पहिले क्या थे, इसके आगे क्या होंगे ? सो ये सब जो कीड़ा मकौड़ा पशु पक्षी आदि दिख रहे हैं ये सब उसके प्रतीक हैं। सो मैं कुछ था और न संभाले तो मैं ऐसा ही कुछ होऊँगा। जरा कुछ ध्यान तो करना चाहिए कि काल है अनन्त। अनन्त काल व्यतीत हो गया, अनन्त काल आगे और पड़ा है। इसे रहना कब तक पड़ेगा ? अनन्तकाल तक। हम हैं, हमारा कभी नाश नहीं हो सकता। हम पर्यायें बदलते जायेंगे या शुद्ध हो जायेंगे तो सिद्ध बनेंगे, पर हम कभी मिट नहीं सकते। अनन्तकाल तक रहेंगे। उस अनन्त कालके सामने ये जीवनके १००-५० वर्ष कुछ गिनती भी रखते हैं क्या ? अरे यह इतना सा समय कुछ भी तो मूल्य नहीं रखता। फिर इतने से समयमें हम आप व्यर्थ ही अपना स्वच्छन्द प्रवर्तन करते हैं। व्यर्थ ही रागद्वेष मोहादि विकार भाव बनाते हैं। इनके फलमें जन्म मरणकी परम्परा ही बढ़ती रहेगी और अनन्त काल तक दुःख भोगना पड़ेगा।

विवेकी पुरुषका विवेक—विवेकी पुरुष वह है जो इस सुयोगका लाभ उठाये। जैसे किसी नगरमें एक यह रिवाज था कि हर वर्ष नया राजा बनाया जाता था, और नया राजा बनने पर पहिले वाले राजाको जंगलमें छोड़ दिया जाता था, यों बहुतसे लोग राजा बने, जंगलमें छोड़े गए और दुःखी होकर मरे। एक बार एक विवेकी पुरुष राजा बना। उसने विचार किया कि एक वर्षके लिए तो हमें सब अधिकार प्राप्त हैं। जो चाहे हम कर सकते हैं। उसने जिस जंगलमें उसे छोड़ा जाता था उस जंगलमें एक बहुत बड़ा भाग साफ करवा लिया, खेती करने लायक भूमि बनाली, बहुतसे नौकर चाकर दिये, कोठियाँ भी बनवा लीं, खेती करनेके सारे सामान भी भेज दिए। जब एक वर्ष बाद उसे उस जंगलमें छोड़ दिया गया तो वहां उसे क्या कष्ट ? वह तो बड़े आरामसे रहने लगा। तो इसी तरह से समझिये हम आप लोग कुछ समयके लिए मनुष्य बन गए हैं। अब मनुष्य बनकर यहांकी यह रीति है कि प्रायः करके ये मनुष्य निगोदमें, नरकमें अथवा पशु पक्षियोंकी योनियोंमें पटक दिये जायेंगे। लेकिन कोई

आत्मा चतुर हो तो वह तो समझता है कि इस मनुष्य भवमें मैं जो कुछ करना चाहूं कर सकता हूं, जो ज्ञान मिला है उसका ठीक उपयोग कर लें। तो वह अपने ज्ञानका ठीक उपयोग करेगा, अपने आत्माको जानेगा, आत्माका विश्वास करेगा, आत्मामें लीन होगा उसके सब कर्म कट जायेंगे वह सिद्ध पद पायगा और अनन्त कालके लिए सुखी रहेगा।

आयु, नाम व गोत्र कर्मके विपाकसे विडम्बना—भैया! यहां व्यर्थके भ्रमका चैन मत मानो। विपदा हम आप पर बसी है इन कर्मोंकी। ये मौज माननेके दिन हैं। कुछ अच्छे साधन पाकर, योग्यतायें पाकर यदि मौज मानते रहे, धर्मको भूले रहे तो इसका फल क्या होगा? इस १००-५० वर्षके समयकी तो बात क्या, अनन्त काल तक जन्म मरणकी परम्पराके दुःख भोगने पड़ेंगे। कुछ तो सोचिये। यह कर्मोंका ही तो फल है कि इस जीवको शरीरमें फंसना पड़ता है। यदि यह जीव शरीरमें न फसा होता, खालिस होता तो इसकी बड़ी शान्त अवस्था होती। जिस शरीरको देखकर हम बड़े खुश होते हैं, जिसको देखकर हम अपना बड़ा गौरव अनुभव करते हैं, जिसको हम बड़े आराममें रखना चाहते हैं, जिसकी शकलके फोटो स्टेचू आदि बनवाकर लोकमें नामवरी फैलाना चाहते हैं वह शरीर ही इन समस्त विडम्बनाओंका कारण है। खूब निरख लीजिए, शरीरके सम्बधसे होता क्या? भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिक ये सब इस शरीरके नातेसे ही तो हैं, इस शरीरको निरखकर गर्व न करें। यह शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुआ है, यह मेरी चीज नहीं। यह जड़ है, मैं चेतन हूं, और फिर खासकर यह मनुष्यका शरीर तो बड़ा भयानक सा है। इस शरीरमें अन्दरसे लेकर बाहर तक कुछ भी तो पवित्र चीज नहीं है। हाड़ मांस, मज्जा, खून, पीप नाक, थूक, खकार, मल, मूत्र आदिक महा दुर्गन्धियोंका घर है यह शरीर। अनुप्रेक्षा ग्रन्थोंमें आचार्योंने कहा है कि इस मनुष्यको जो ऐसा गंदा अपवित्र शरीर मिला है वह इसको वैराग्यके लिए दिया है। इस शरीरसे इस मनुष्यको राग न रहे क्योंकि महा गंदी अपवित्र चीजसे किसे प्रीति होती है? तो ये मनुष्य इस शरीरमें राग न करके आत्मकल्याण कर लें, मानो इसलिए यह महा अपवित्र शरीर को ही अपना सर्वस्व मानता है। यही कारण है कि यह शरीर इस जीवको महा दुःख दे रहा है। शरीरके सम्बंध से ही यह जीव ऊंच नीच कहलाता। जिसे कुल कहो अथवा गोत्र कहो। ये कर्म गोत्र भी इस जीवके क्लेशके ही कारण हैं। यदि लोकमें निन्द्य कुल मिल गया तो यह जीव यह सोचकर दुःखी रहता है कि हाय मैं क्या हूं। अगर पूज्य कुल मिल गया तो इसमें यह जीव गर्व करने लगता है। यों

यही शरीर इस जीवके क्लेशका ही कारण बन रहा है।

इच्छाकी अनर्थरूपता व अन्तरायका विपाक—इच्छाके माफिक इस संसारमें न कभी किसीका हुआ, न होगा, न होता है। कोई पुरुष जिस कालमें इच्छा करे उसी कालमें उसकी इच्छाकी पूर्ति हो जाय यह किसीके आज तक हुआ क्या? एक दिनकी देर लग जाय, एक घंटेकी अथवा एक मिनटकी देर लग जाय। इच्छा करते ही तुरन्त उसकी पूर्ति हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता। बड़े बड़े पुरुष तीर्थंकर चक्रवर्तियोंको भी ऐसा नहीं हुआ। इसका प्रमाण यह है कि जिस कालमें कोई चीज मिली हुई है, अनुभवी जा रही है, भोगी जा रही है उसी कालमें उस चीजको किसीने इच्छा भी की क्या? चाहे और दूसरी इच्छा करले पर जिसको भोग रहा है उसकी इच्छा तो नहीं होती। जैसे कोई दूकान पर बैठा हुआ सोचता है कि आज हमें इसमें ५० रु मिलें तो जब तक नहीं मिले तब तक तो वह सोच रहा है और जब मिल गए तो फिर जब मिल गए तो फिर नहीं सोचता, भले ही वह नई बात चाह ले। तो जो चीज पास है उसकी चाह नहीं बनती और जो चीज पास नहीं है उसकी चाह बनती है। इससे सिद्ध है कि जब चाह है तब वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती और जब चाह नहीं है तब वस्तुकी प्राप्ति होती है। कोई जिस कालमें जिस चीजकी इच्छा करे वह चीज उसे उसी समयमें प्राप्त हो जाय, ऐसा कभी हो नहीं सकता। बहुत से लोग तो अपने घरमे ऐसी हठ करने लगते हैं कि हमें तो अमुक चीज खानी है, जैसे मानो खीर खाना है तो जिस समय उसको खीर खाने की इच्छा हुई उसी समय उसे खीर मिल तो नहीं जाती। तो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि जब इच्छा की जाय तभी उस चीजकी प्राप्ति हो सके। जब इच्छा करते ही तुरन्त चीज प्राप्त न हुई तो मुझे कुछ भी न चाहिये। मैं बिना चाहे, बिना इच्छा किए अपने आपमें तुष्ट रहूं। तो हम आप को ये कर्म बड़ी बिडम्बनाके, विकारके कारण बन रहे हैं।

कर्मबन्ध व कर्ममुक्तिका आधार आत्मभाव—कर्मोंका बन्ध होता है तो हमारे ही भावोंसे होता है। हम अपने विकार भाव न करें, पापोंसे दूर रहें, कषायोंसे दूर रहें, दूसरों की क्षमा करने का, दूसरोंके आगे नम्र रहनेका, अपने आपमें सरल बने रहने का, उदार रहनेका हम अपना अभ्यास बनायें। इन कषायोंसे कोई लाभ नहीं होता। क्रोध करके यह कभी शान्ति नहीं पा सकता। क्रोधके कालमें अशान्त हैं और क्रोध के जिस दूसरे पुरुषको कुछ पीड़ा उत्पन्न कर दे उसकी ओरसे सदा भय और चिन्ता रहेगी। अभिमान करके दुनिया को नीचा देखकर, अपने को सब से ऊँचा समझना आदि इन प्रवृत्तियोंसे किसी को शान्ति नहीं मिलती।

मायाचार करके, छल कपट करके भी किसी को शान्ति नहीं मिलती। लोभ करके भी शान्ति नहीं मिलती। अनेक बार ऐसा अनुभव किया हो कि १० रुपये का लोभ किया तो उसी प्रसंगमें या अन्य किसी प्रसंगमें हजार ५०० का टोटा हो गया। और लोभ करना किसका ? कोई अपनी चीज हो तब ना। जगतमें जो कुछ भी समागम है वे सब मुझसे भिन्न हैं उनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं, मैं अकिञ्चन हूं, ज्ञानमात्र हूं, ये दो भावनाएँ ऐसी ऊँची है कि इन भावनाओंसे ही आप धर्म पा लेंगे। ज्ञान ज्योति पायेंगे, कर्मोंका विनाश कर लेंगे और अपने आपमें तृप्त हो लेंगे। अपने आपको अकिञ्चन अनुभव करने से अपने आपकी प्रभुताके दर्शन होंगे और उसी समय जो आनन्द प्रकट होगा, वह आनन्द अन्य किसी भी उपायसे नहीं प्राप्त हो सकता। वह सर्वोत्कृष्ट आनन्द है। स्वाधीन आत्माकी उपासनासे उत्पन्न हुआ आनन्द है। इससे इतना तो कमसे कम ख्याल करते ही रहें कि जो समागम मिले हैं ये सब विनाशीक है, मेरे साथ सदा न रहेंगे। मैं तो अकिञ्चन हूं और ज्ञानमात्र हूं। यह बात समझमें तो आयी होगी। जो बात समझमें आयी है उसे कई बार विचार लो। अपने अन्दरमें उसे देखें, यह भी किया जा सकता है और इस उपाय से नियमसे आत्मकल्याण होगा। धर्म किसी जाति अथवा मजहब की चीज नहीं, धर्मका सम्बन्ध तो आत्मासे है। और धर्मका फल है शान्ति देना। जो धर्म करेगा सो शान्त होगा और सदाके लिए संसारके संकटोंसे छूट जायेगा। हमारा कर्तव्य यह है कि हम अपने को सही जानें यथार्थ प्रतीति करें और अपने आपमें रमने की धुन बनायें, इसी उपायसे कर्म दूर होंगे और उस शुद्ध सिद्ध पदकी प्राप्ति होगी। उसकी ही धुनमें समता का उपासक पुरुष सिद्ध भगवानका यह। ध्यान करता है, उनकी भक्ति करता है और सिद्धके स्वरूपको अपने स्वरूपको एक समान निरखकर सोऽहं, वही मैं हूं इस अभेद भावनासे अपने आपमें एक ज्ञान ज्योतिका अनुभव करता है। यही धर्मपालन है और यही सबका काम है, जो करेगा सो इस धर्मके फलमें अतुल शान्ति प्राप्त करेगा।

समाधिभक्त द्वारा मोक्षलक्ष्मीनिकेतनकी वन्दना—आत्माके रागद्वेषादिक किसी भी विकारमें हित न समझने वाला ज्ञानी पुरुष समताके परिणामकी उपासनामें समताकी शाश्वत स्पष्ट मूर्ति सिद्ध भगवंतकी वंदना कर रहा है। ये सिद्ध प्रभु मोक्षलक्ष्मीके निकेतन हैं अर्थात् मुक्तिश्री हैं इसका आश्रय पाकर शोभायमान है। ये शरीरसे भी मुक्त हैं, कर्मोंसे भी मुक्त हैं, विषयकषाय वाञ्छा आदिक विकारोंसे भी मुक्त हैं और इतना सामान्य ज्ञानात्मक हैं कि वहां विचार तर्क वितर्क आदिक भी नहीं उत्पन्न होते।

एक स्वरूप जो जाना सो ऐसा ही सदाकाल जानते रहेंगे, ऐसे साधु समूह की मैं वंदना करता हू। सिद्ध भगवानमें सम्यक्त्व आदिक ८ गुण होते हैं। कर्म जैसे ८ हैं तो इन ८ कर्मों ने आत्माके इन ८ गुणोंको दवा दिया था, विकृत कर दिया था। अब ८ कर्मोंके नष्ट होनेसे ये ८ गुण सिद्ध भगवतमें प्रकट हुए हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण व वेदनीयके क्षयसे परमगुणविकास—कौनसे ८ गुण सिद्ध भगवतमें इन कर्मोंके नष्ट होनेसे प्रकट हुए हैं? उनको क्रमसे सुनिये—ज्ञानावरणकर्मके नष्ट होनेसे भगवानमें केवल ज्ञान प्रकट हुआ, जिसके प्रतापसे तीन लोक तीन कालवर्ती समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जानते हैं। यह ज्ञान आत्माका स्वभाव है, कहीं बाहरसे लाया गया हो, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान एक अमूर्त स्वरूप है, उस पर किसी का आवरण नहीं वरन सम्बन्ध बनता है कि ज्ञानावरणके उदयका निमित्त बनता है। लेकिन आत्माकी स्वयकी कमजोरीके कारण ऐसा निमित्तनैमित्तिक पाकर यह जीव स्वय अपने ज्ञानका विकास नहीं कर पाता। अब ज्ञानावरण बिलकुल नष्ट हो जानेके कारण उस सिद्ध आत्मामें केवल ज्ञान प्रकट हुआ है। दूसरे कर्मका नाम है दर्शनावरण कर्म, इस कर्मके उदयसे आत्माका दर्शनगुण नहीं प्रकट हो पा रहा। विकृत दृष्टि बन रही थी। अब दर्शनावरण कर्मके नष्ट होनेसे प्रभुसे केवल दर्शन प्रकट हुआ है। अब वे प्रभु तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंके जाननहार निजस्वरूपका दर्शन किया करते हैं। तीसरा कर्म है वेदनीयकर्म। इस वेदनीयकर्मके उदयसे वह बाधाये जीवको आ रही थीं। सासारिक सुख दु खके रूपमें यह जीव क्षुब्ध रहा करता था। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदिकके रूपसे यह जीव दुःख माना करता था। अब वेदनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे सिद्ध भगवान में ये सुख दु ख नहीं रहे, उनमें सत्य आनन्द प्रकट हो गया। सुख और आनन्दमें अन्तर है। सु का अर्थ है सुहावना लगना और ख का अर्थ है इन्द्रिय। जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं और जो अपने आपमें सर्व ओरसे समृद्धिशाली बने, शान्त बने उसे कहते हैं आनन्द। आनद आत्माका स्वभाव है, पर सुख आत्माका स्वभाव नहीं। ये सुख दुःख वेदनीयकर्मके उदयसे बनते हैं। अब ये प्रभु सुख दुःखसे परे, परमशान्त आनन्दमग्न हैं, उनके अनन्त आनन्द है। उनका आनन्द आत्मासे उत्पन्न हुआ आनन्द है। वह आनन्द कभी भी मिट न सकेगा। उसे [illegible] आनन्द कहो अथवा अव्याबाध कहो। जहा किसी प्रकारकी बाधा [illegible] है यह वेदनीय कर्मके अभावसे प्रकट हुआ है।

मोहनीयकर्मके क्षयसे परम गुणविकास—चौथे कर्मका नाम है मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म दो प्रकारसे प्रहार कर रहे थे। एक तो इस जीवकी

श्रद्धा बिगाड़ दी। निजको निज, परको पर जानना चाहिये था, लेकिन निजकी तो अब सुध भी न रही और परको निज जान रहा था। ऐसी श्रद्धा बिगड़ी इस दर्शन मोहके उदयसे कि चारित्र मोह के उदयसे यह जीव विषयोंमें रमने लगा। इसको रमना चाहिए था अपने ज्ञानमात्र स्वरूपमें, किन्तु इस अन्तस्तत्त्वमें न रमकर यह जीव रम रहा है बाह्य विषयोंमें, बाह्य पदार्थोंमें। तो मोहनीय कर्मके ये दो प्रकारके प्रहार हो रहे हैं। अब मोहनीयके नाश हो जाने से यहां सिद्ध भगवंत विशुद्ध आत्म प्रतीतिमें रहते हैं और अपने आत्मामें ही लीन रहा करते हैं। उससे होता है आनन्द और समीचीनता। जैसा आनन्दका स्वरूप है तैसा ही सही स्वरूप प्रकट हो गया। तो मोहके अभावमें इसमें सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ है। यहां सम्यक्त्वका अर्थ केवल सम्यग्दर्शनका ही न लेना। सम्यग्दर्शन भी होता है और सही आचरण भी होता है। प्रकट रूपसे जैसा यह आत्मा है, जैसा इसका स्वरूप है वह पूर्णरूपसे वैसा ही प्रकट हो गया है।

आयुकर्मके क्षयसे परम गुणविकास—५ वां कर्म है आयुकर्म, आयुकर्म के उदयके कारण यह जीव संसार अवस्थामें शरीरोंमें बँधा रहता था। जैसे इस समय हम आप शरीरमें बँधे हुऐ हैं, तो जब तक मनुष्य आयु कर्म चल रहा है तब तक इस मनुष्यशरीरमें बँधे रहेंगे, इसी प्रकार मनुष्य भवकी आयु समाप्त होने पर, दूसरे भवमें पहुचने पर दूसरी आयुने बाँध दिया। अब उस भवमें उस आयुके कारण बँधे रहेंगे। तो शरीरमें इस जीव को रोके रखनेका काम आयुकर्म करता है, आयुकर्म अब न रहा तो सिद्ध भगवन्त अब किसी भी शरीरमें नहीं बँधे हैं और उनमें अब अवगाहन गुण प्रकट हो गया है। इस समय तो एक जीव दूसरेके शरीरमें नहीं समा सकता, दूसरेके स्थानमें नहीं रह पाता, लेकिन आयुकर्म अब न रहनेसे सिद्ध भगवान जहाँ विराजे है वहां अनन्त सिद्ध विराजे हुए हैं, ऐसा उसमें अवगाहन गुण प्रकट हुआ है। जिस जगहसे कोई ऋषि मुक्त होता है उसी जगहसे अनन्त ऋषि मुक्त हुए हैं। उन सबका अवगाहन ऊपर उसी जगहसे होता है। जीव जब कर्मोंसे मुक्त होता है तो इसकी ऊर्ध्व गति होती है। जहांसे वह जीव मुक्त हुआ है, कर्मोंसे छूटा है, ठीक उसकी ही सीधमें बहुत ऊपर जिसके बाद फिर लोक नहीं हैं, वहाँ जाकर यह जीव विराजमान होता है और वहींसे अनन्त जीव मोक्ष गए हैं तो वे भी उसी जगहमें अवस्थित हैं। इस ढाई द्वीपके अन्दर कोईसा भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहासे जीव मोक्ष न गए हों। इस दृष्टिसे ढाई द्वीपका प्रत्येक स्थान निर्वाणस्थान है, तीर्थक्षेत्र है। जैसे हम आप यहां पर शिखरजी, गिरिनारजी आदिकको

निर्वाण क्षेत्र कहते हैं। क्यों कहनेकी प्रसिद्धि है ऐसी कि शिखरजीसे अनन्त जीव मोक्ष गए हैं और इस युगमें भी अनेक महापुरुष मोक्ष पधारे तो जिन-जिन क्षेत्रोंसे जीव मोक्ष गए हैं, विशेषतया जिनकी प्रसिद्धि है उनको हम निर्वाणक्षेत्र कहते हैं। यह तो हम ढाई द्वीपके भीतर ही रहकर सोच रहे हैं ना, इसलिए विशेषपूर्वक हमें निर्वाणक्षेत्र विदित होते हैं। लेकिन सारी दुनियाकी दृष्टिमें देखो ढाई द्वीपके बाहरके क्षेत्र यहांसे कोई जीव मुक्त नहीं हुए। तो उनके मुकाबलेमें यह ढाई द्वीपका क्षेत्र तो सारा का सारा निर्वाण क्षेत्र है। जिस जगह हम आप बैठे हैं इस जगहसे भी अनन्त जीव मोक्ष गए। तो यह जगह भी निर्वाण क्षेत्र है। तो इस ढाई द्वीपमें प्रत्येक प्रदेशसे अनेक जीव मोक्ष गए हैं और वे वहां ही सीधे ऊपर जाकर विराजमान रहते हैं। तो सिद्धभगवन्तमें ऐसा अवगाहनगुण प्रकट हुआ है। देखिये—वहां रहने वाले सिद्ध भगवान की स्थिति कि एक माहि एक राजे, एक माहि अनेक नो। वे सिद्ध भगवान किस तरह रह रहे हैं? एक सिद्ध भगवानमें अनेक सिद्ध भगवान रह रहे हैं, क्योंकि उस ही जगह से जितने आत्मा मुक्त हुए हैं वे ऊपर ठीक सीधमें उसही जगह रहेंगे। इसलिए एकमें अनेक रह रहे हैं, फिर भी एकमें अनेक नहीं रह रहे। एकमें एक ही रह रहा है, वह किस प्रकार कि जिस भगवानने केवलज्ञानके द्वारा जो कुछ जाना वह उस ही भगवानने जाना, वहीं रहने वाले अन्य सिद्ध भगवानने अपने स्वरूपसे अपने उस समस्तको जाना। तो सबका ज्ञान, सबका आनन्द, सबका परिणमन उनका अपने आपमें जुदा जुदा है। इस निगाहसे देखो तो प्रत्येक सिद्ध अपने एकमें एक ही रह रहा है, एकमें अनेक नहीं रहते। लेकिन स्थानकी दृष्टिसे देखो तो एक सिद्धमें अनेक सिद्ध रह रहे हैं। तो आयुकर्मके नष्ट होनेसे सिद्ध भगवन्तमें यह अवगाहनगुण प्रकट हुआ है।

नामकर्मके क्षयसे परमगुण विकास—छठे कर्मका नाम है नामकर्म। नामकर्मके उदयसे इस जीवके शरीरकी रचना होती आ रही थी। जैसे कोई मनुष्य मरा और मरकर उसे घोड़ा बनना है तो जिस स्थान पर वह घोड़ा बनेगा उस स्थान पर यह जीव पहुंचा। पहुंचनेके बाद घोडेके शरीरका निर्माण हुआ। घोडेके जैसे अंगोपाङ्ग बने। तो इसको रचने वाला कौन है? यदि किसी एक विधाता को मान लिया जाता तो उसमें अनेक आपत्तियां हैं। प्रथम तो यह बात है कि उसने कहां बैठ कर इस शरीरको बनाया? और वह भी शरीर वाला है या बिना शरीरका है? यदि शरीर वाला है तो उसके शरीरको किसने बनाया? यदि शरीर नहीं है तो जिसके शरीर नहीं है वह क्रिया ही क्या कर सकता है? आ

फिर इसने बनाया क्यों ? क्या दया आयी इस लिए इन जीवोंको बनाया ? यदि दयाकी वजहसे जीवोंको बनाया तो उसे अन्त तक दया निभानी चाहिए थी, लेकिन यह जीवोंको दुःख भी दे रहा है, नरकमें भेज रहा है। तो अब उसकी दयालुता कहां गई ? यदि वह खेल खेलमें बना रहा है, उसे ऐसा बनानेमें कुछ आनन्द आ रहा है इसलिए अपने मौजके लिए बना रहा, तो अपने मौजके लिए दुनियाकी रचना की जिससे जीव दुखी हों, यह तो बड़े पुरुषोंका काम नहीं। यह तो तुच्छ लोगोंका काम है कि अपने मौजके लिए दूसरों पर चाहे कुछ भी अन्याय करें। इससे अच्छा तो यह था कि उन जीवोंको वह बनाता ही नहीं तो वे दुःखी ही न होते। किस लिए बनाया ? कोई इसका ठीक उत्तर नहीं बैठता। दूसरी बात यह है कि जीवोंको बनाया तो किसी साधनसे बनाया या कुछ भी न था और बना दिया ? कुछ भी न हो और कुछ बन जाय, ऐसा तो त्रिकालमें भी नहीं हो सकता। अरे मिट्टी है तभी तो घड़ा बनेगा, कुछ भी न हो और घड़ा बन जाय ऐसा तो नहीं हो सकता और कुछ था तो वह था ही पहिलेसे फिर बनाया गया। एक नया परिणमन हो गया है। तो बहुत सी बातें विचारने पर यह सिद्ध होता है कि इस जगतको, इस लोकको, इस शरीरको किसी एकने नहीं बनाया है, किन्तु ये ही शरीरके परमाणु जो फुटकर फैले रहे थे वे ही इस मोही जीवका संसर्ग पाकर इस शरीर रूपमें बन गए। उसका कारण है नाम कर्मका उदय। तो नामकर्मके उदयके निमित्तसे यहां जीवोंके शरीरकी रचना होती थी और इस शरीरके कारण यह जीव स्थूल रहा करता था। जैसे—हम आप सब मोटे मोटे लोग बैठे हैं ना, सूक्ष्मता तो नहीं रही, इस जीवको पकड़ भी सकते, कोई भग रहा हो तो उसे पकड़कर बाँधा जा सकता। तो ऐसा स्थूलपना बन रहा था लेकिन अब नामकर्म नष्ट हो गया तो सिद्ध भगवंत वहां सूक्ष्म रूपसे ही विराजमान हैं। अब यह स्थूलपना नहीं रहा। जैसे यहां किसीको देखकर हम कह बैठते हैं कि यह अमुक है, इसको पकड़ लिया, बैठा लिया, बाँध दिया, यहासे अब अन्य कहीं जा नहीं सकता। जैसा व्यवहार यहां जीवके प्रति किया जा सकता था वह व्यवहार अब नहीं हो सकता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है।

गोत्रकर्मके क्षयसे परमगुणविकास—७ वां कर्म है गोत्रकर्म, इस गोत्रकर्मके उदयके निमित्तसे यह जीव ऊँच नीच कुल वाला कहलाता था, देवगतिके सभी जीव उच्च कुल वाले कहलाते हैं देवोंका नीच कुल नहीं होता, तिर्यञ्च गतिके जीव सभी नीच कुलके कहलाते है चाहे सिंह हो, चाहे घोड़ा हो, चाहे पेड़ हो, सभी नीच कहलाते हैं। केवल मनुष्यगतिके जीवों

में दोनों कुल सम्भव हैं। कोई मनुष्य कुलके कहलायेंगे, कोई उच्च कुलके कहलायेंगे। तो ये जो कुलसे भेद हैं ये गोत्रकर्मके उदयसे ही रहे हैं। अब सिद्ध भगवन्तमें गोत्रकर्म नहीं रहा, गोत्रकर्मके नष्ट होनेसे अब वहाँ अगुरुलघु गुण प्रकट हुआ है। अ मायने नहीं, गुरु मायने बड़ा, लघु मायने छोटा, वहां कोई सिद्ध न छोटा है न बड़ा। सभी एक समान हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दके धारी हैं। यहांसे कई मुनि ऐसे मोक्ष गए हैं जिन्हें कोई लोग जान भी नहीं सके; पर वे मुनि मुक्त होने पर सिद्धोंकी भांति अनन्त आनन्दके धारी बने। अनन्त चतुष्टय उनसे प्रकट हुए जैसे ऋषभदेव, वर्द्धमान स्वामी आदिक मुक्त हुए, ऐसे ही वे अनन्ते मुनि भी मुक्त हुए, उनमें कोई छोटे बड़ेका भेद नहीं रहता। इसी कारण सिद्ध भगवन्तमें यह अगुरुलघु गुण प्रकट हुआ है।

अन्तराय कर्मके क्षयसे परमगुण विकास—८ वें कर्मका नाम है अन्तराय कर्म। अन्तरायकर्मके उदयसे इस जीवको बड़े विघ्न आ रहे थे। दान देना चाहते थे, पर दान न दे सके, दान देनेके भाव ही नहीं पैदा हो पाते। कोई पुरुष तो ऐसे भी हुए हैं जो अपने मुखसे भी कह डालते हैं कि मेरे पास धन बहुत है और मैं चाहता हू कि कुछ दानमें लगाऊँ, पर मेरे हाथसे दान दिया नहीं जाता रहा। चाहते हुए भी मैं अपने हाथसे किसीको दान नहीं दे सकता। कोई जबरदस्ती उसका धन छुड़ाकर दानमें लगा दे तो उसका वह कुछ बुरा नहीं मानता, उसमें वह खुश है, पर अपने हाथोंसे दान नहीं दिया जाता। यह क्या है? यह एक ऐसा विचित्र अन्तरायका उदय है कि दान दे नहीं सकता। चाहता यह है कि मुझे इतना लाभ हो, पर लाभ नहीं हो पाता। लाभ होनेकी स्थिति भी आये तो उस लाभमें विघ्न हो जाते हैं। यह जीव चाहता है कि मैं खूब खाऊँ, पर खाया नहीं जाता। बहुतसे रईस लोग ऐसे हैं कि जो चाहते हैं कि मैं खूब खाऊँ, पर कोई रोगके कारण उनको खाना ही नहीं पचता, वे खा ही नहीं सकते तो क्या है? यह एक अन्तरायका उदय है। इसी प्रकार उपभोगमें भी विघ्न आता है। उपभोग उन पदार्थोंको कहते हैं जो बराबर भोगनेमें आ सकते हैं, जैसे चारपाई, परिजन, घर ये उपभोग कहलाते हैं इनमें भी विघ्न आ जाता है। वह उन भोगको नहीं भोग सकता है। शक्तिमें विघ्न आ गया। तो ये सब अन्तराय होते होने संसार अवस्थामें अन्तराय कर्मका उदय था लेकिन अब वे अन्तराय कर्म नष्ट हो गए, सिद्ध भगवानके अनन्त शक्ति प्रकट हुई है। अब वे प्रतिक्षण अनन्त आनन्द भोगते रहते हैं। यह उनका एक मकल सन्यास है। तो प्रभुके ये ८ गुण उत्पन्न हुए हैं। ऐसे सम्यक्त्व आदिक ८ गुणोंसे सहित सिद्ध समूहको मैं नमस्कार करता हू।

आकृष्टिं सुरसम्पदां विदधते भक्ति श्रियो वश्यताम्।
उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वैषमात्मैनसाम्॥
स्तंभंदुर्गमनं प्रतिप्रयततो मोहस्य सम्मोहनम्—
पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता॥१३॥

समाधिभक्तका सर्वत्र सम्यग्दर्शन—लोकमें एक समता परिणाम ही सार भूत तत्त्व है। न करे कोई समता तो बीतेगी क्या उसपर? आकुलता। किसी बाह्य पदार्थमें राग जगा तो इसे मिलेगा क्या? आकुलता। किसी बाह्य पदार्थमें घृणा हुई तो मिलेगा क्या? आकुलता। केवल एक समता ही सार है। किसी भी प्राणीमें रागद्वेष न जगे, किसी भी बाह्य पदार्थमें रागद्वेष उत्पन्न न हो तो वहाँ केवल जाननहारकी दृष्टि रहती है और ऐसे ज्ञातापनकी स्थितिमें उसके समताभाव जगता है। उस समता परिणाममें जिसका दूसरा नाम है समाधिभाव, उस समाधिभावमें उस जीवको विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है, ऐसा समाधिभाव यह समाधिभक्त सत पंचपरमेष्ठीमें निरख रहा है। साधु भी रागद्वेषको दूर करके समता परिणामके परम उपासक हैं। साधुजन शत्रु और मित्रमें समताका भाव रखते हैं। कैसा स्पष्ट भेदविज्ञान है साधुजनोंका कि एक तो मित्र है और एक शत्रु है, अर्थात् एक पुरुष तो साधु महाराजकी बड़ी सेवा करता है और एक पुरुष साधुको सताता है, दुःखी करता है लेकिन साधु पुरुषकी दृष्टिमें वे दोनों एक समान हैं, भले ही व्यवहार कुछ जुदे जुदे ढगका हो जाय, मगर भीतरमें न शत्रुके प्रति द्वेष है और न मित्रके प्रति मोह है। वह साधु तो उन दोनोंका भला चाहता है। सबका कल्याण हो जब भीतर में विशुद्ध ज्ञानप्रकाश जगता है तब ही आत्मामें ऐसी निष्पक्षता प्रकट होती है। साधुजन महल और श्मशानमें समता परिणाम रखते हैं। श्मसान में रहते हुए वे ग्लानि नहीं करते, विषाद नहीं करते, बल्कि श्मशानमें एकान्तमें, वैराग्यके स्थानमें रहने के कारण जो विशुद्ध ज्ञान विकास होता है, विरक्ति बढ़ती है उससे वे शुद्ध आनन्दकी वृद्धि ही अपनेमें पाते हैं। साधु सत श्मसानमें रहकर विषाद नहीं मानते और महलोंमें रहकर मौज नहीं मानते। कभी किसी अच्छे महलमें साधुको ठहरा दिया गया, अथवा आहार आदिकके प्रयोजनसे किसी महलमें पहुंच गए तो महलमें रहकर भी वे कहीं मौज नहीं मानते। उनके लिए श्मशान और महल दोनों ही समान हैं। सामने स्वर्ण रत्न पड़ा हो अथवा पत्थर, काँचका टुकड़ा पड़ा हो, पर साधुकी दृष्टिमें उन दोनोंका एक मूल्य है। यह तो किसी छोटे बच्चेकी दृष्टिमें भी आ सकता है। किसी दो चार माहके बच्चेके पास स्वर्ण और काँच दोनों रख दिये जायें तो उसके लिए क्या है? क्या वह

समझता है कि यह अधिक मूल्यवान है यह कम मूल्यवान है ? वस्तुको तो अज्ञानके कारण ऐसा कहा जा सकता है कि उसे कुछ जानकारी नहीं है लेकिन साधु महाराजको प्रयोजन कुछ नहीं है इस कारण दोनोंमें समता है। साधु ने तो अपने शुद्ध ज्ञानमय आत्मामें ही रमने के लिए जीवन माना है। उसे अन्य कोई दूसरा काम नहीं है। विषय उसे रुचिकर नहीं लगते हैं, स्वर्णको वह करेगा क्या और कांचका भी वह क्या करेगा ? तो यों साधु महाराजको स्वर्ण और कांचमें बराबरकी बुद्धि है। कोई निन्दा करे अथवा स्तवन करे तो उन दोनोंमें साम्यबुद्धि है।

समाधिभक्तका आराधना देवता—समताकी मूर्ति पञ्च परमगुरुकी भक्तिमें समताका उपासक लीन रहा करता है। इसी प्रकार आचार्य उपाध्याय भी समताके पुञ्ज हैं और अरहंत सिद्ध प्रभु तो प्रकट साम्यमूर्ति हैं, उनकी भक्ति मत करते हैं तो उनकी भक्तिमें उनके नामके जो अक्षर हैं, पंच नमस्कार मंत्र है, वह भी उसे देवता लग रहा है। णमोकारमन्त्रको भी वह देवता समझता है। पञ्चनमस्क्रिया क्षरमयी आराधना देवता सबकी रक्षा करें। शरण लेनेके योग्य ५ परमगुरु हैं—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनका जाप जिन अक्षरोंमें किया जाता है वे अक्षर भी देवता कहलाते हैं। उन अक्षरोंके सहारे से जो चित्तमें आराधना बनती है उसको भी देवता कहते हैं। यहां समाधिभक्तिका प्रकरण है। ज्ञानी संतको समतापरिणाम ही सर्वोत्कृष्ट इष्ट है। तो उस पंच नमस्कारकी अक्षरमय जो यह आराधना है णमोकार मंत्रके सहारे से जो पंचपरमेष्ठीकी आराधनारूप परिणति है उस देवता की प्रशंसा कर रहे हैं कि यह नमस्कार मन्त्र की आराधना अथवा नमस्कारमन्त्र रूप आराधना सम्पदाके आकर्षणको करती है अर्थात देवों में प्राप्त होने वाली सम्पदा को खींच कर इसके समक्ष उपस्थित करती है, अर्थात् पंचपरमेष्ठी की भक्तिके प्रसादसे इतना विशिष्ट पुण्यकर्मका बन्ध होता है कि देवोंके जो इन्द्र हैं, जो उत्कृष्ट सम्पदाके अधिकारी हैं उनकी सम्पदाको प्राप्त करा देता है।

नमस्क्रियाक्षरमयी आराधना देवतामें प्रभावका कारण—नमस्कारमंत्रमें क्यों इतना प्रभाव पड़ा है, इसका कारण यह है कि इसमें जिन पवित्र आत्माओंकी उपासना की जा रही है वे आत्मा समीचीन दृष्टिसे पवित्र हैं, पवित्रताका अर्थ है कि किसी चीजमें वही चीजमात्र रहना और दूसरी चीजका सम्बन्ध न रहना इसीको पवित्रता कहते हैं। जैसे चौकी पवित्र है तो चौकी चौकी ही है। चौकीमें दूसरी वस्तुका सम्बन्ध नहीं है, यही पवि-

त्रता कहलायी। आत्मा पवित्र कौन है? जो आत्मा केवल आत्मा ही हो, उस आत्मामें परका सम्बंध न हो उसे पवित्र कहते हैं। जैसे यहां संसारमें हम आपके आत्माके साथ दूसरी वस्तु भी जुड़ी हुई है। यद्यपि वस्तु स्वरूप के कारण आत्मामें आत्मा ही है, परमें पर ही है, लेकिन संयोग सम्बध तो प्रकट जुड़ा हुआ है। साफ समझमें आरहा है, हम शरीरमें बँधे हैं, कर्म में बँधे हैं, तर्क वितर्क विचार वितर्क ऐसे उत्पन्न होते हैं कि हम अपने सहज स्वरूपका ज्ञान भी नहीं कर पाते। ऐसी अपवित्रता है इस समय हम आपकी, किन्तु प्रभुमें ये अपवित्रतायें नहीं हैं। हम आपके लिए आदर्श कौन है? हम किसको ओर निगाह रखे कि हमें वैसा बननेमें लाभ है, और प्रकार बननेमे लाभ नहीं है, ऐसा आदर्श आत्मा है तो यह प्रभु है। तो जो केवल रहे, दूसरेका सम्बंध न रहे, ऐसे ही पवित्र आत्माको परमात्मा कहते है। दुनियावी लोग तो परमात्माकी, ईश्वरकी इसमें तारीफ नहीं जान पाते। वे समझते हैं कि जिसके पास बहुतसे देवता आते हों, वह जगतका बड़ा हिसाब किताब भी रखता हो, जो भक्तोंको सुख देता हो, जो भक्त नहीं हैं उन्हें दुःख देता हो, सब जीवोंकी व्यवस्था जिसने अपने शिर रख ली हो उसको लोग भगवान मानते हैं लेकिन उसमें तो प्रकट अपवित्रता है, क्योंकि वहां परके प्रति लगाव है। केवलमें केवलको समा देने वाला परम आत्मा पवित्र हैं और उसकी आराधनामे प्रभाव है।

पवित्रतामें ही शान्तिका लाभ— पवित्रताको इगलिशमें कहते हैं प्योरिटि। कैवल्य संस्कृतका शब्द है, जिसका दूसरा अर्थ है खालिस। जो आत्मा आत्मा ही रह गया, उसके साथ किसी दूसरी चीजका सम्बध न हो उसे कहेंगे पवित्र (प्योर)। हम आप जब तक ऐसा नहीं बन सकते केवल तब तक संसारमें रुलते रहेंगे, यहांके पाये हुए थोडेसे सुख साधनों का कोई महत्त्व नहीं है। ये सब क्षोभको उत्पन्न करने वाले हैं। जब तक कैवल्य न प्रकट हो तब तक हम आपको शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। क्या चाहिए? हम हम ही रह जायें, हममें दूसरी चीजका सम्बध न हो, बस वही धर्म है, वही धर्मका फल है और वही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति है कि हम जैसे हैं, जितने हैं उतने ही रह जायें, हममें दूसरी चीजका सम्बंध न रहे, यह चाहिए हम आपको। अब अपने दिलमें खोजो, क्या यह निर्णय आपने बना पाया कि हमको क्या बननेमें लाभ है? धनी बननेमें लाभ है या दुनियाका नेता बननेमे लाभ है या बड़ा प्रतिष्ठावान् बननेमें लाभ है? यदि धनिक हो गए तो क्या लाभ मिलेगा? आकुलतायें और बढ़ेंगी, राज्यकर्मचारी और सतायेंगे। बन्धुजनोंके भी हम कृपापात्र न रह पायेंगे सभी लूटनेकी बात सोचेंगे। मित्रजन इसीलिए मित्रता बनायेंगे। धनका

लोभ इस आत्माके लिये श्रेयस्कर नहीं है। यह तो पुण्योदयसे मिलता है, पर धनके कारण जीवको शान्ति हुआ करती हो सो बात नहीं। कितने ही गरीब लोग बड़े शान्त सुखी नजर आते हैं, शान्ति ही तो चाहिए वह मिलती है बुद्धिसे, ज्ञानसे, विचारसे, न कि वैभवसे। बल्कि वैभव तो विकारका आश्रय बन जाता है,

वैभवमें विकारकी आश्रयभूतताका एक दृष्टान्त—दो भाई थे। वे परदेश गए धन कमानेके लिए। खूब धन कमा लिया और सोचा कि इस सब धन को घर कैसे ले जायें ? सो सारा धन बेचकर दो कीमती रत्न खरीद लिये। चले अब अपने देशको। रास्ते में पड़ना था समुद्र। सो समुद्री जहाजमें बैठे हुए जा रहे थे। वे दोनों रत्न बड़े भाईके पास थे। रास्तेमें वह बड़ा भाई सोचने लगा कि इस समय दोनों रत्न हमारे पास हैं। घर जाने पर एक रत्न छोटा भाई ले लेगा सो अच्छा होगा कि इसको समुद्रमें ढकेल दें। फिर तो हमें दोनों रत्न मिल जायेंगे। थोड़ी ही देरमें तुरन्त सभल गया और विचार करने लगा—ओह ! धिक्कार है। ऐसे रत्नोंके पीछे हमने अपने छोटे भाईकी जान लेना सोचा। सो वह अपने छोटे भाई से कहता है—भाई, ये रत्न तुम अपने पास रखो। इनको हम अपने पास न रखेंगे। जब छोटे भाई ने उन रत्नोंको अपने पास रख लिया तो थोड़ी ही देरमें उसके भी खोटे भाव बने। सोचा कि इन रत्नोंको तो मैंने अपने दिमागसे कमाया है, बड़े भाईका तो सिर्फ थोड़ा सा सहयोग रहा और घर जाने पर ये बँट जायेंगे। अच्छा होगा कि हम अपने इस बड़े भाईको समुद्रमें ढकेल दें। यह मर जायेगा और ये दोनों रत्न हमारे हो जायेंगे। वह भी तुरन्त सभल गया और अपनी गलती पर पछतावा करने लगा। उसने भी उन रत्नोंको अपने पास रखना स्वीकार न किया। खैर, किसी तरहसे घर पहुचे, तो उन रत्नोंको मा को दे दिया। मा वृद्ध थी। उसने उन रत्नोंको पाकर विचार किया कि--वृद्धावस्थामें कोई सहारा नहीं देता, यदि अपने पास धन रहेगा तो सभी मददगार होंगे। अच्छा होगा कि इन रत्नोंको छिपाकर रख दें और इन दोनों बेटोंको किसी तरहसे मरवा दें। इतने खोटे भाव बनते ही वह माँ भी तुरन्त संभल गयी और अपनी गलती पर अपने को ही धिक्कारने लगी। उस मा ने भी उन रत्नोंको अपने पास रखना स्वीकार न किया। फिर वे दोनों रत्न उन दोनों भाइयों ने अपनी बहिनके पास रख दिये। बहिन भी सोचने लगी कि ये रत्न तो बड़े कीमती हैं। ये दोनों भाई हमसे ये रत्न ले लेंगे। अच्छा होगा कि खाना तो हम ही बनाती हैं। खानेमें विष मिलाकर इन दोनों भाईयों को खिला दें। ये मर जावेंगे तो ये दोनों रत्न हमें मिल जायेंगे। थोड़ी ही देर बाद

वह भी संभली और अपनी गलती पर बड़ा पछतावा किया। उसने भी उन रत्नोंको अपने पास रखना स्वीकार न किया। अन्तमें उन सबने एक दूसरेसे अपने मनमें उत्पन्न हुए खोटे भाव बताये और यह निर्णय किया कि इस धनसे तो वह पहिले वाली गरीबी भली थी। सो उन रत्नोंको समुद्र में फिकवा दिया। पहिले की भाँति गरीबीमें निवास करके सुखसे रहने लगे। तो यह धन वैभव बडे विकारका कारण बन जाता है। इस धन वैभवसे शान्ति नहीं मिलती। शान्ति मिलती है आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि करने में।

कैवल्य पाने के उपायसे सत्समागमकी सफलता—भैया! आप आज बड़े हुए हैं, सुख सुविधायें मिली हैं, अच्छा कुल मिला है, सब बातें अच्छी मिली हैं तो इस आत्मस्वरूपके ज्ञानकी कमाई कर लें अन्यथा यह दुर्लभ नर जन्म यों ही बेकार चला जायेगा। तो यहाँ शरण लेने योग्य यदि कोई हो सकता है तो वही हो सकता है जो पवित्र हो। अपवित्र हो उसकी शरण लेने से क्या लाभ? पवित्र वह कहलाता है जो खालिस आत्मा ही आत्मा कहलाता है। उस आत्माके साथ कोई दूसरी चीज न लिपटी हो। यहाँ हम आपके पास अनन्त तो शरीरके परमाणु लिपटे हैं, अनन्त मनोवर्गणाके परमाणु लिपटे हैं, अनन्त कर्मपरमाणु लिपटे हैं और इन लिपटावोंके प्रभावमें विषय कषाय, वाञ्छा, तर्क वितर्क आदि नाना तरंग उठ रहे हैं जिनसे हम अपने आपको खो बैठे। पहिले आप यह निर्णय कीजिए कि हमें करना क्या है? इसी निर्णय पर धर्मपालन सम्भव है। हमको बनना है खालिस, जो मैं हू सो ही बस यही बननेका भाव है। यह बात जिस दिनसे चित्तमें आ जायेगी, सच्चा मार्ग मिलेगा, मोक्षमार्ग मिलेगा, तभीसे शान्त रहने लगेंगे। जगतकी विडम्बना देखकर। किसी भी परपदार्थका कुछ परिणमन देखकर आकुलित न हों। हमको बनना है केवल, ज्ञानमात्र। अन्य कुछ नहीं। अगर अपना लगाव परपदार्थोंसे लगा है। उनके प्रति अनेक प्रकारके सोच विचार प्रयत्न किये जा रहे हैं तो क्या केवल बना जा सकता है? पुत्र मित्र स्त्री परिवार घर आदिकमें लगाव लगा रहे, उनमें मोह कर रहे, उनकी ओर दृष्टि दे रहे, अपना उपयोग उनमें रख रहे तो क्या इस यत्नसे हम केवल बन सकेंगे? क्या खालिस रह सकेंगे? कभी भी सम्भव नहीं है। इतना तो अभी विचारना चाहिए कि मैं तो खालिस अभी भी हू। स्वरूपसे देखो तो सबसे न्यारा अब भी हू। मेरे स्वरूपमें किसी दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हू, अमूर्त हू। आकाशमें रहकर भी आकाशसे निराला हू। अन्य की बात तो छोड़ो। देहमें रहकर भी देहसे निराला हूं और गृहस्थीके कारण गाँवमें, घरमें रहते हुए भी ग्राम और घरसे निराला हूं। मैं केवल-

ज्ञानमात्र हूं, यह बुद्धि अगर जग जाय तो सचमुचमें अमीर हैं, जो ऐसी पवित्रता जहाँ प्रकट हुई है उन परमात्माकी यहां आराधना की जा रही है और ऐसी पवित्रता प्रकट करनेके लिए जिन्होंने दृढ संकल्प किए हैं जो पूर्णतया प्रयत्नशील हैं ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंकी आराधना की जा रही है। यह आराधना देव सम्पदाको प्राप्त कराने वाली है।

पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी देवतामें मुक्तिश्रीकारिता व चतुर्गतिदु खहारिता—पञ्च परम गुरु सभी आत्मा मोक्षसे सम्बधित हैं, सिद्ध भगवानको साक्षात मोक्ष प्राप्त हुआ है। अरहंत भगवानको भी घातक कर्मोंसे मोक्ष प्राप्त हो तो गया है, पर अभी अघातिया कर्मके सम्बन्धसे मोक्षस्थानमें नहीं हैं। यहाँ ही दुनियामें विहार कर रहे हैं, लेकिन वे भी मुक्त हैं, आचार्य, उपाध्याय, साधु यद्यपि इस समय मुक्त नहीं हैं, लेकिन वे मोक्षमार्गमें लगे हुए हैं। तो चूँकि मोक्ष मार्गसे मोक्षसे इन पंच देवताओंका सम्बन्ध है अतएव इनकी आराधना करने से मुक्तिश्री वशमें हो जाती है, अर्थात् जो भक्तिभावसे स्वरूप विचार कर पंचपरमेष्ठियोंकी आराधना करता है उसे मुक्ति प्राप्त होना अवश्यभावी है। पंच नमस्कारकी वर्णोंमय यह आराधना चारों गतियोंमें उत्पन्न हुई विपदाओंका विनाश कर देती है। वस्तुस्वरूप का सत्यज्ञान होना, परपदार्थ पर ही है, यह ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व यह ही मैं हूं, मेरेसे अतिरिक्त अन्य पदार्थ अत्यन्त निराले हैं ऐसा जिसका दृढ श्रद्धान हो और जिसका यह निर्णय हुआ कि केवल ज्ञानमात्र आत्माके रहनेमें ही वास्तविक शान्ति है और ऐसा ही इसका होना है उस पुरुषकी इन केवल आत्माओंमें रुचि जगेगी और जहाँ ज्ञानमात्र आत्मामें भक्ति जगी वहा चारों गतिके संकट अवश्य नष्ट होंगे।

स्थावरोंके क्लेश—गतियोंमें कितना घोर दु ख है। इस जीवकी सब से पहिली स्थिति निगोदकी थी। निगोद कहते किसे हैं? ये संसारी जीव दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर। जहा दो इन्द्रिय हों, तीन इन्द्रिय हों, चार इन्द्रिय हों, ५ इन्द्रिय हों वे तो त्रस कहलाते हैं और जहा जीभ, नाक आँख, कान आदिक कुछ न हों, केवल एक शरीर हो शरीर हो उसे स्थावर कहते हैं। जैसे—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, पेड़ वनस्पति वगैरह। अब वनस्पतिके दो भेद होते हैं—एक हरी वनस्पति और दूसरी निगोद वनस्पति। हरी वनस्पति फल, फूल, पत्ते, पेड़ वगैरा कहलाते हैं और निगोद नामकी वनस्पति जो हरी नहीं है, जिसका सूक्ष्म शरीर है, जो एक श्वासमें १८ बार जन्ममरण करके घोर दु ख भोगता है वह निगोद कहलाता है। हम आप सब जीव सबसे पहिले अर्थात् अनादिकालसे निगोद पर्यायमें थे। अब आप यहाँ यह जान सकेंगे कि हम संसारकी

कितनी दुर्गतियोंको पार करके आज इस श्रेष्ठ मनुष्यजन्मको धारण किए हुए हैं। ये जीव सर्वप्रथम निगोद अवस्थामें थे। उस निगोदसे तो ये ५ स्थावर अच्छे हैं। निगोदकी दशा इन ५ से भी बुरी है। निगोदसे किसी तरह निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति हुए। ये पाँचों ही पर्याय निगोदसे कुछ अच्छी हैं, लेकिन हैं ये एकेन्द्रिय ही। जिनका ज्ञान अत्यन्त हीन है ऐसी पर्यायोंमें बहुत काल व्यतीत किया।

त्रस जीवोंके क्लेश—कुछ शुभ उदय आया कि स्थावरसे निकलकर दो इन्द्रिय जीव हुआ। अब दो इन्द्रिय जीवमें रस लेने की शक्ति आयी। रसका भी सुख लेने लगा। कोई भयकी चीज हो तो उससे अलग हटनेकी भी उसमें सामर्थ्य आयी। पैर तो नहीं है मगर छातीके बलपर जैसे केंचुवा जोक शंख कोड़ा वगैरह चलते रहते हैं। कुछ ज्ञान और बढ़ा तो दो इन्द्रियसे तीन इन्द्रियमें आ गया। वहाँ नासिका भी प्राप्त करली, जैसे चींटा चींटी वगैरा कुछ और ज्ञान बढ़ा तो तीन इन्द्रियसे चारइन्द्रिय हो गया। इस चार इन्द्रिय जीवके चक्षु और बढ़ गए, जैसे पतंगे, मक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया आदिक। चारइन्द्रियसे निकल कर पञ्चेन्द्रिय हुआ, उसके कान भी बढ़ गए। अब सुनने का भी ज्ञान करने लगा। लेकिन मन न हो तो उनका भी जीवन इन्हीं विकलत्रयोंकी तरह है। पञ्चेन्द्रिय असंज्ञी जैसे पानीमें रहने वाले साँप वगैरह होते हैं। वहाँसे निकलकर मन वाला हुआ। मन वाला भी यदि सिंहादिक क्रूर जानवर हुआ तो वहाँ भी पाप करके दुःखी हो गया और कदाचित् हो गया निर्बल तो बलवान जानवरोंके द्वारा खाया गया। इन पशुवोंके दुःखकी भी कहानी क्या कहें? अनेकके दुःख तो आँखों दिखते हैं। सूकरों पर कौन दया करता है? कुछ लोग तो यह निर्णय किए बैठे हैं कि ये सूकर आदिक पशु तो इसी लिए पैदा हुए हैं कि इनको लोग मारें और खायें। पहिले तो उनसे कुछ काम लेते हैं, जब कुछ काम कर सकने योग्य न रहे तो उन्हें मार डालते हैं।

नारक मनुष्य व देवगतिके क्लेश—तिर्यञ्च गतिसे निकलकर किसी तरह नरकगतिमें पहुंचे तो वहाँके दुःखका क्या कहना? जहाँ इतने दुःख होते हैं कि हजारों बिच्छुवोंके काटनेसे भी इतना अधिक दुःख न हो। ठंड गर्मीका दुःख, आपसकी लड़ाईका दुःख, असुर कुमारके देव भिड़ाते हैं उसका दुःख, भूख प्यासके दुःख। यों दुःख ही दुःखमें अनगिनते वर्षोंकी आयु व्यतीत होती है। वहाँसे निकलकर कदाचित मनुष्य हुए तो मनुष्य होकर भी दुःख ही दुःख पाया, गर्भका दुःख, गर्भसे निकलते समयका दुःख,

बचपनका दुःख, जवानीका दुःख, बुढ़ापेका दुःख। कहीं ज्ञान नहीं प्राप्त किया। मनुष्य होकर मरे, फिर किसी गतिमें गए। कदाचित् यह देव भी हुआ तो देवोंका शरीर वैक्रियक होता है। उनके शरीरमें हाड़, मास, खून आदिक नहीं होते, भूख प्यास भी नहीं लगती, हजारों वर्षोंमें कभी भूख प्यास भी लगी तो उनके कठसे अमृत झड़ जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। ऐसे सुख साधनोंमें भी जीव गया लेकिन तृष्णाके कारण वहाँ भी दुःखी रहा। कषायें ४ होती हैं क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध कषायकी तीव्रता नारकियोंमें पायी जाती है, मान कषायकी प्रबलता मनुष्योंमें, माया कषायकी प्रबलता तिर्यञ्चोंमें और लोभ कषायकी प्रबलता देवोंमें पायी जाती है। भला बतलावो जिन देवोंको कोई रोजगार, व्यापार, खेती, आदि नहीं करना है, कल्पवृक्षोंसे अपने आप मनचाही चीजें प्राप्त होती हैं फिर भी अपनेसे अधिक ऐश्वर्य वाले देवोंको देखकर वे मन ही मन कुढ़ते हैं और विकट तृष्णाके कारण वे दुःखी रहा करते हैं। उनको इष्ट वियोग भी नहीं होता। अगर कोई देवी मर गयी तो अन्तर्मुहूर्तमें ही दूसरी देवी उत्पन्न हो जाती है और अन्तर्मुहूर्तमें ही वह जवान हो जाती है। तो वहाँ इष्ट वियोगका भी दुःख नहीं, पर तृष्णावश वे निरन्तर दुखी रहा करते हैं। तो अपने आपको यह जान गये होंगे कि मनुष्योंमें यह मानकषाय कितनी प्रबल है। मान होना चाहिए फिर यह जीव राजी। यह मनुष्य धनसे राजी नहीं है, धन तो मानके लिए बढ़ाना चाह रहा है। चूँकि ऐसा मान रखा है कि दुनियामें धनके कारण इज्जत बढ़ती है इस लिए लोग धन बढ़ानेके प्रयत्नमें रहा करते हैं। यह धनका बढ़ाना भी मानकषायके पोषणके लिए है। कहीं अपमान हो रहा हो तो अपना मान रखनेके लिऐ लोग धनके खर्च होनेकी परवाह नहीं करते। तो मनुष्यगति मे मानकषायकी तीव्रता है।

निर्मान होकर पवित्रता पानेका अनुरोध—अपना प्रयत्न यह होना चाहिए, ज्ञान ऐसा बनना चाहिए कि मानकषाय हमारी मंद हो। काहेका मान? ये संसारकी सब चीजें अपवित्र हैं। यहा पवित्र तो प्रभु हैं जो केवल ज्ञानस्वरूप हैं। जिनके साथ कोई झंझट नहीं लगा है। जिनके साथ न शरीरका सम्बंध है, न कर्मका। वे ही पुरुष इस जगतमें पूज्य हैं। जो पुरुष ऐसे पवित्र आत्माकी आराधना करता है उसके चारों गतियोंके संकट दूर हो जाते हैं। जो पंच परमगुरुकी पूजामें उपासनामें लगा हो, इन पंच गुरुओंके गुणोंमें लगा हो उस पुरुषमें पाप नहीं ठहर सकते। भला उपयोग तो एक है। जब हम अपना उपयोगमें निर्मोह आत्माके गुणोंको नहीं बसाते हैं तो प्रकृत्या मोहमे ही उपयोग फसेगा, और वहा पाप है। जब निर्मोह,

पवित्र, ज्ञानमय आत्माकी वंदनामें उपयोग रहता है, उनके गुणोंका स्मरण उपयोगमें रहता है, तब यह पाप नहीं हो सकते, तो पंच गुरुवोंकी यह आराधना पापोंसे विद्वेष रखती है। तो जहां पच गुरुवोंकी आराधना बस रही हो वहां पाप नहीं ठहर सकते, हम आपका वास्तवमें रक्षक है अपने आपके स्वरूपका स्मरण, ध्यान, आराधना, और बाह्यमें अगर कोई रक्षक है तो परमात्मा और गुरु। देव और गुरु, इसी कारण हम आपको देव और गुरुके सम्बंधमें कोई भ्रम नहीं रखना चाहिए। देवका जो सत्यस्वरूप है उसे समझकर उसे देव मानें। देव वह होगा जो पवित्र हो। पवित्र वही कहलायेगा जो बाह्यसम्बधसे रहित हो और अपने सत्यस्वरूपमें हो, अर्थात वीतराग और सर्वज्ञ वही देव कहला सकता है। हम रागद्वेषीको भगवान (देव) के रूपमें स्वीकार न करें। आजकल लोग सोचते हैं कि चाहे कोई भी भगवाव (देव) हों, सब भगवान (देव) एक समान हैं, सब गुरु एक समान हैं, किसी भी मजपबके हों। लेकिन यह सोचिये कि हमको करना है आत्मकल्याण। अर्थात् हमें बनना है खालिस आत्मा। मैं ज्ञान-मात्र आत्मा ही रह जाऊँ, मेरे साथ अन्य झंझट न रह जायें ऐसा पवित्र आत्मा मैं बन जाऊँ, तो ऐसा बननेके लिए हमें आदर्श उनको मानना होगा जो रागद्वेषसे रहित हों। जिनके साथ स्त्री पुत्रादिक हों वे मेरे देव नहीं। जो हाथमें शस्त्र लिए हों, युद्ध भी करते हों वे मेरे देव नहीं। जो रोष करने वालोंको दण्ड आदिककी व्यवस्था करते हों वे मेरे देव नहीं। ऐसे देवोंकी आराधना करनेसे हमारे प्रयोजनकी सिद्धि कैसे हो सकती है? अर्थात् मैं आत्मा केवल ज्ञानमात्र रहूं यह तो हम चाहते हैं और हम अज्ञानी, मोही, परिग्रही देवोंकी सेवा करते हैं तो उससे कुछ भी सिद्धि न होगी। पुण्य भी न बनेगा। इसी प्रकार गुरुवोंकी भी बात सोचो, जो विकृत भेष बनाये हो, सिरमें बडे- बडे जटा रखाये हों शरीरमें भस्म रमाये हों, चमीटा त्रिशूल आदि रखे हों, साथमें हाथी घोड़ा आदिक आडम्बर रखे हों, महंत हो, जिनके पास बाग बगीचे भी हों, झोंपड़ी हो, खाने पीनेके साधन भी जो अपने साथ लिए फिरते हों, उनको अपना गुरु-मानकर हम कुछ भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते। मेरा प्रयोजन है कि मैं मैं ही रह जाऊँ, मुझमें दूसरी चीजका सम्बध न रहे तब ही तो मैं शान्त रह सकूँगा। तो ऐसा बननेके लिए हमें ऐसी ही धुन वाले गुरु चाहिए, जिनकी सेवा करके हम अपना उद्देश्य सही बना सकें और अपने विचारे हुए उद्देश्यको सफल कर सकें। ऐसी बात हम आपको इन पचपरमगुरुवों में ही मिलेगी अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इसी कारण इनके गुणोंकी भक्तिसे हम ससारके समस्त सकटोंको दूर कर लेते हैं।

दुःखके कारणभूत छह शत्रु—प्राणियोंके जितने भी कष्ट है वे हैं मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन ६ विकारोंके कारण जिसके मोह है उसको चैन कहाँ ? और साथ ही वह मोह है अज्ञानके कारण, विपरीत परिणाम। तो जहाँ परमें दृष्टि है, परको निज माननेकी दृष्टि है, परको अपनानेकी दृष्टि बनी है, वहाँ चूँकि वे पर अनर्थ है, भिन्न हैं उसका समागम उनके मनके अनुकूल नहीं हो पाता अतएव वे निरन्तर बेचैन रहते हैं। लेकिन यह बात यदि हो भी जाय तो वह निभेगी कब तक ? वियोग तो उसका होगा ही। यह जीव मोहमें बेचैन है। बड़े - बड़े महापुरुष भी जब तक मोह करते रहे तब तक बेचैन रहे। तो इस जीवके अन्त ये ६ भाव है। बाहरमें कहाँ कोई वैरी दिखता है ? दूसरा वैरी है काम। इस कामको मनोज कहते हैं। यह विकार केवल मनसे उत्पन्न होता है। जहाँ मन नियन्त्रित न रहा वहाँ यह खोटा भाव उत्पन्न हो जाता है, और उस खोटे परिणामके कारण यह जीव बेचैन रहता है। क्रोध कषायमें यह जीव खुदका भी विनाश कर लेता है और दूसरेका भी विनाश कर देता है। कोई महिला अगर मिट्टीके हाँडेमें ३-४ किलो घी लिए है तो गुस्सेमे आ कर उसे भी पटक देती है। गुस्सेमें आकर उसे कुछ विवेक नहीं रहता है। यह क्रोध एक बहुत बड़े अनर्थका कारण बन जाता है। द्वीपायनमुनिने क्रोधमे आकर अपनी नगरीको जला दिया था जिसमें खुद भी भस्म हो गए थे। तो यह क्रोध भाव भी इस जीवके लिए बड़ी बेचैनीका कारण है। अभिमान भी जीवकी बड़ी बेचैनीका कारण है। यह अभिमान किसीका जम नहीं सकता, क्योंकि सभी प्राणी अपना - अपना बड़प्पन चाहते हैं। अभिमानमें सिवाय दुःखके कुछ लाभ नहीं प्राप्त होता। मायाचार भी जीव के लिए बड़ी बेचैनीका कारण है। इससे अत ही अत' चिन्ता, शोक परेशानियाँ बनी रहा करती हैं। और लोभ कषायको तो सभी लोग समझते हैं। जीवनमें अनेक बार अनुभव भी किए होंगे। कभी थोड़ा सा लोभ किया तो उसके बदलेमें सैकड़ों हजारोंका नुक्सान सहना पड़ता है तो इस प्रकारसे ये सभी खोटे भाव इस जीवके दुःखके कारण हैं।

दुःखोंसे छुटकारा पानेके उपायकी चिन्तना—अब विचार कीजिये कि क्या ससारके इन दुःखोंके मेटनेका कोई उपाय भी है ? हाँ उपाय तो है। यही उपाय है कि ये छहों विकार भाव न रहें, या जो ऐसे स्वरूप वाले हैं जिनमें ये छहों विकार नहीं रहे उनके स्वरूपका ध्यान करें, उनकी उपासना करें। इस ही उपायसे ये सभी दुःख मिट सकते हैं। जैसे खूनका दाग कभी खूनसे नहीं धुल सकता, जलसे ही धुलेगा, इसी प्रकार इन छहों प्रकारके विकार भावोंका दुःख इस णमोकार मत्रसे धुल सकता है न कि

विकारवान परिजन, मित्रजनके सम्पर्कसे। तो इन समस्त दुःखोंके मेटनेके लिए विकाररहित जो अपना सहज स्वरूप है उसको दृष्टिमें ले तो यहाँ इस विकारजन्य दुःखसे भयभीत हुआ समाधिभक्त संत भावना कर रहा है पंच परमगुरुवोंकी ओर इन परम गुरुवोंके गुणोंका स्मारक जो नमस्कार मंत्र है उसकी आराधना करता है। वह इस स्वरूपकी आराधनाको देवता समझता है और महिमा गा रहा है कि यह पंच नमस्कारके अक्षरमय आराधना जीवको दुर्गमनसे बचाती है। वह दुर्गमन क्या? इन छहों प्रकारके शत्रुवोंसे घिर जाना यही इस जीवका दुर्गमन है। चारों गतियोंमें यह नाच दिख रहा है अज्ञानका। यह अज्ञान बड़ा घमंड करता हुआ सारे विश्वको कुचलता हुआ नृत्य कर रहा है। इसका सब प्राणियों पर राज्य है। ऐसा एक मदमें ही आकर यह अज्ञान नृत्य कर रहा है। इससे छुटकारा वह ही पुरुष प्राप्त कर सकेगा जिसने यथार्थ ज्ञान किया। सम्यग्ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि एक बार भी अगर झलक जाय तो फिर चाहे किसी प्रकारके कर्म विपाकवश गिर भी जाय लेकिन उसकी स्मृति रहेगी तो किसी दिन अवश्य ही संकटोंसे वह मुक्त हो लेगा।

णमोकारमंत्रमें शुद्ध तत्त्व व शुद्ध हितका दर्शन—यह एक णमोकार मंत्र है जो प्रायः पूजन दर्शनके समय सब लोग गाते हैं—णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमोलोए सव्वसाहूणं॥ इस मंत्रमें किसी का नाम नहीं लिया गया। ऋषभदेव, महावीर श्रीराम, हनुमान आदिक किसी भी भगवानका इसमें नाम नहीं लिया गया, क्योंकि जिसका नाम रखा वह भगवान नहीं है और जो भगवान है उसका नाम नहीं होता। भले ही यहां हम आप लोग नाम रख लेते हैं कि यह अमुक राजाके पुत्र थे, अमुक वंशके थे, अमुक जगह उत्पन्न हुए थे, पर जो आत्मा सर्वप्रकारके कर्मोंका, सर्व विकार भावोंका परित्याग करके शुद्ध हुआ उसका कोई नाम भी है क्या? पहिले गृहस्थावस्थामें उनका जो नाम रख दिया गया था उस नामको लेकर उनकी महिमा हम आप लोग गाते हैं। पर साक्षात् रूपसे देखो तो भगवान ज्ञानपुञ्जको कहते हैं। यह तो अज्ञान है जो मनुष्योंमें परस्परमें धर्मके नाम पर लड़ाइयां होती हैं। सभी लोग अपने-अपने धर्मकी बातें गाते हैं, पर धर्म नाम है किसका और धर्मके लिए करना क्या है, किसे जपना है, इसका यदि यथार्थ स्वरूप समझमें आ जाय तो कलहकी कोई गुञ्जाइश नहीं है। पहिले तो हम आप लोग यह निर्णय करें कि हम जीव हैं, दुःखी हैं, हमें सुखी होना है, शान्त होना है, सदाके लिए संकटोंसे छुटकारा पाना है, बस यही हमारा उद्देश्य है। यदि यह निर्णय न रखकर पर्यायबुद्धि किए हैं, जाति कुल, मजहब

आदिमें दृष्टि है, तब यदि अपने धर्मका प्रचार करते हैं तो इससे जीवका उद्धार न हो सकेगा। अपने आपके अन्दर सोचें कि मैं जीव हू, आत्मा हू, जानन देखनहार एक पदार्थ हू, मैं हो गया मनुष्य यह बहुत बड़ा भाग्य है। अब मुझे ऐसा उपाय बनाना है कि इस जन्ममरणसे हमें छुटकारा प्राप्त हो जाय। भीतरमें यदि यह भाव जगे तब तो धर्मकी समस्या सुलझ सकती है और यदि शरीरको निरखकर ही अपने जातिकुल, धर्मके प्रचार की कोई बात करे तो उससे धर्मकी समस्या सुलझ नहीं सकती। जिस मजहबमें हम पैदा हुए हैं उसका बहुत प्रचार हो, जाय, इससे हमें क्या मिलेगा? यदि वास्तविक तत्त्व है कुछ तो उसका प्रचार हो। तो उससे इन विपत्तियोंसे छुटकारा प्राप्त करनेका अवसर प्राप्त हो सकता है। तो पहिले यह बात चित्तमें आना चाहिए कि मैं आत्मा हू, मुझे शान्ति चाहिए। कोई भी हो, लोक प्रसिद्ध किसी भी जातिमें उत्पन्न हुए हों, आखिर जीव हैं, सब एक समान हैं। स्वरूपतः देखो, सबकी एक सी गति है, सबका एक सा स्वभाव है। तो पहिले यह निर्णय होना चाहिए कि मैं जीव हू और मुझे शान्ति चाहिए। अब शान्तिके लिए वह यत्न करें वह परख करें। अपने आपकी परख करें कि मैं क्या हू?

अन्तरमें निर्णयसे सर्व निर्णय—देखिये सारे निर्णय और सारे मार्ग, अपने हितके सारे प्रयत्न अपने आपमें सही निर्णय बनायें उससे बन सकेंगे। मैं क्या हू? मैं अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण क्या हू? कैसा हू? अब यह निष्पक्ष होकर जानकारी करने लगा, क्योंकि बाहरमें इसने मोह नहीं रखा। मैं जीव हू, मुझे शान्ति चाहिए, इस उद्देश्यको लेकर बढ रहे हैं तो सभी समस्यायें सुलझ जायेंगी। मैं क्या हू? मैं एक जानने देखने वाला आत्मा हू। और दु:ख मानने वाला मैं नहीं हू क्या? हाँ मान तो रहा हू दु:ख, पर दु:ख मेरा स्वरूप नहीं है। यदि दु:ख मेरा स्वरूप होता तो एक रूपसे रहना चाहिए था। उसका ताँता न टूटना चाहिए थे। तो ससारके दु:ख रूप मैं नहीं। और ससारके सुख रूप भी मैं नहीं, क्योंकि यदि ससारके सुख रूप मैं होता तो फिर सुखका भी ताँता न टूटना चाहिए था। तो ये ससारके सुख दु:ख तो विकार हैं। मैं इन रूप नहीं। मैं तो किसी भी स्थितिमें रहू - केवल ज्ञानरूप हू, ऐसी समझ यदि बने तो समझो कि धर्म यही है काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादिक विकारभाव करना, यह मेरा धर्म नहीं, केवल जानन देखनहार रहना, यही मेरा धर्म है। और, जो केवल जाननहार हैं वे हमारे लिए आदर्श हैं, पूज्य हैं, उपासनीय हैं। ऐसे उपासनीय भगवानको निरखकर हम भी अपने उद्देश्यमें बढें तो वे सब समाधान पा सकते हैं।

पञ्च परम पदोंका संक्षिप्त स्वरूप और णमोकार मन्त्रमें निष्पक्षताका दर्शन—जो विकाररहित हैं, शुद्ध ज्ञानमात्र हैं, ज्ञानपुञ्ज हैं ऐसे समृद्ध हैं कि जिनको तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ स्पष्ट ज्ञान हो रहे हैं वह है भगवानका स्वरूप। ऐसे भगवान जब शरीर सहित रहते हैं तो उन्हें कहते हैं अरहंत और जब शरीर रहित हो जाते हैं तो उन्हें कहते हैं सिद्ध। तो इसमें कोई पक्षकी बात नहीं आयी। भगवानके स्वरूपका इसमें निर्णय है। भगवानका यह स्वरूप है और ऐसे विकासको प्राप्त करने के लिए जो प्रयत्न शील हैं उनका रूप क्या होता? घरसे उन्हें प्रयोजन नहीं है। घर छूट गया, परिग्रहसे उन्हें प्रयोजन नहीं, परिग्रह छूट गया। कोई काम काजसे, आरम्भसे उन्हें कुछ प्रयोजन नहीं रहा। केवल एक आत्मस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप, सहजस्वरूप ज्ञानज्योतिमात्रके ध्यान करनेका ही प्रयोजन है तो आरम्भ भी छूट गया। केवल शरीरमात्र परिग्रह है और अपने आपके उस ज्ञानस्वरूपके ध्यानमें रहनेका यत्न करते वे कहलाते हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु। तो इन पच परम गुरुवोंमें किसीका भी नाम नहीं दिया गया, आत्माके विकासका नाम है। अविकार आत्मविकास यही भरा है पंच परम गुरुवोंमें, इसी कारण इस णमोकार मंत्रका इतना माहात्म्य है कि जो श्रद्धा पूर्वक इसे जपता है उसके लौकिक संकट भी क्षण भरमें दूर हो जाते हैं। तो मन्त्रमें सामर्थ्य इसी कारण आयी है कि जिनका जाप जपा जा रहा वे गुरु विकार रहित ज्ञान आत्मा हैं। कितना इस ज्ञानी संत का निष्पक्ष मार्ग है? नाम तकका भी जहाँ लगाव नहीं है। जो ज्ञानपुञ्ज है, ज्ञानमात्र है वह भगवान है। देखिये आत्माके नातेसे भगवान का स्वरूप निरखा है उसने। इस अविकारी दृष्टिसे भगवानका स्वरूप देखें, तो यह आराधना, यह अविकार ज्ञानस्वरूपकी उपासना दुर्गमनका निवारण करा देती है और मोहको भी समाप्त कर देती है।

मोहसे बरबादी और निर्मोहतासे अभ्युदय—यह मोह इन सारे विश्वके प्राणियों पर ऐसा छा रहा है कि ये सब प्राणी बेहोश पडे है। लेकिन इस ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें वह माहात्म्य है कि इसके प्रतापसे यह मोह भी स्खलित हो जाता है। नष्ट हो जाता है तो जिस पुरुषको समता परिणाम में रुचि जागृत हुई है, जो चाहता है कि मैं रागद्वेषके सब झंझटोंसे अलग रहकर केवल जाननहार रहूं, ऐसा पुरुष अपनेमें इस स्वरूपको निरखता है और बाहरमें जो समताके पुञ्ज हैं उनको निरखता है। वे हैं ये पंच गुरु सशरीर भगवान, शरीररहित भगवान। और, साधक सन्यासियोंके मुख्य मालिक, साधक संन्यासियोंको पढ़ाने वाले साधु और साधु ये सब निर्मोह हुए हैं या निर्मोह होनेके मार्गमें लगे हुए हैं। मोह ही एक ऐसा शत्रु है जो

हम आपको बरबाद किये जा रहा है, हमें उस मोहको त्यागना है, यह दृष्टि होनी चाहिए। जीवन कितना है, कितनी पर्यायें पायीं, सब भवोंमें मोह किया, पर उस मोहसे लाभ कुछ न हुआ अब तक जन्म मरणकी परम्परा बनाते चले जा रहे हैं। इस मोहको दूर करनेसे ही लाभ मिलेगा। यदि आपको अपने परिजनोंसे प्रेम है तो यत्न यह करना चाहिए कि हम निर्मोह रहकर वीतरागके उपासक होकर अपना कल्याण करें और ये सब भी वीतरागताके उपासक होकर अपना कल्याण करें। हम सब परस्परमें एक दूसरेको धर्म मार्गमें बढ़नेमें मदद करें। यह है आपकी अपने परिजनोंके प्रति सच्ची मित्रता और सच्चा बान्धवपना। और, अगर हम खुद उन परिजनोंमें राग कर रहे, मोह कर रहे, तो समझो कि खुद भी बरबाद होंगे और दूसरोंको भी बरबाद करनेके कारण बनेंगे। तो हम आपको चाहिए कि इस मोहभावको दूर करें, इस मोहको दूर करनेके लिए निर्मोह आत्माओंकी उपासना करें। इससे ही हम आपका मोह दूर होगा और इसीसे हम आपके जीवनकी सफलता है।

अनन्तानन्त संसार संततिच्छेद कारणम्।
जिनराज पदाम्भोजस्मरणं शरणं मम ॥१४॥

दुःखी जीवोंका शरण लेनेसे विकल्पमें विडम्बना—अज्ञान और दुःखसे भरे हुए इस संसारमें अज्ञानी और दुःखी जीवोंका आश्रय करना शरण नहीं हो सकता है, किन्तु जिस किसी भी विरले पुरुषको अपने आपके संस्मरणमें इस रहस्यका पता हो जाता है यह यही निश्चित करता है कि जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिसे सम्पन्न है ऐसे ज्ञान ज्योति स्वरूप आत्माका स्मरण ही शरण है। जिन्होंने संसारकी संततिका छेद कर दिया है उनके ही शरणमें रहनेसे हमारा यह उद्देश्य निर्बाध हो सकेगा कि हम अनन्त संसार संततिका छेद कर दें। सम्यग्दर्शनकी महिमा इस कारण बहुत-बहुत कही गयी है कि सम्यक्त्व भावमें यह सामर्थ्य है कि अनन्त संसार संततिका छेद कर दे। किसी मनुष्यको सम्यग्दर्शन हो जाय और कदाचित् सम्यग्दर्शन भ्रष्ट भी हो जाय और वह मिथ्यात्वमें कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक भी रुले तो इसके बाद उसे सम्यक्त्व होकर निर्वाण होगा ही, तो इतना बड़ा लम्बा समय भी उस अनन्त संसारके सामने न कुछ जैसा समय है, उसे भी यही कहेंगे अनन्त संसार संततिका छेद उस सम्यक्त्वने पहिले ही कर दिया जिन पुरुषोंके उस सम्यक्त्वके होनेके बाद उसका लगाव बना रहता है ऐसे जीवोंका तो कुछ ही भवमें संसार समाप्त हो जाता है। लोग मोहके वश इन क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विकारोंमें बने रहने पर भी अपने

आपमें दूसरोंसे कुछ बड़प्पन मानते रहें, ऐसी प्रकृति बना लेते हैं, लेकिन यह संसार है सारा दुःखमय। ये विकार परिणाम क्लेशमय हैं। अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्य वस्तुओंकी ओर झुकाव होना यही सर्व क्लेशोंका मूल है।

निज सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिका शरण—जिसने यहाँ अपनी संभाल रखी वह कदाचित् बाह्य क्रियावोंमें भी रहता हो तब भी वह अपनेमें सभाला हुआ रहता है। साधु पुरुष जिसने आत्मानुभवका क्षण-क्षणमें अभ्यास किया है ऐसा पुरुष यदि मानो कहीं विहार कर रहा है तो विहार करते-करते भी उसकी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर पहुंची रहती है। और लोगोंको भले ही यह दीखे कि यह विहार कर रहा है, इतना समय हो गया है, यह क्या अभी प्रमत्त गुण स्थानमें ही है लेकिन बीच-बीच वह अपनी अनुभूतिका स्वाद लेता रहता है और लोगोंको अन्तर नहीं दिखाई देता है, और उसकी प्रवृत्तिमें भी सावधानी है और आत्मस्वरूपकी ओर अभिमुख होनेमें भी सावधान रहता है। अप्रमत्तविरत गुणस्थानका काल सेकेण्डके करीबका है, सेकेण्डसे भी कमका है और उससे भी कुछ अधिकका है, इतने समय दृष्टि आ जाना यह बात अभ्यास करने वालेके लिए सहज है, एक क्षणकी भली दृष्टिका प्रताप ऐसा है कि बहुत काल तक भी उसके प्रतापसे अनाकुलता रहती है, तो जो विकासपसंद जीव हैं उनकी शरण लेना यह अपने लिए लाभकारी बात नहीं है। जो अधिकार ज्ञानस्वभावकी ही रुचि रखते हैं और इस कारण उनको बाह्यमें प्रीति नहीं, बाह्यमें अधिक वृत्ति नहीं, सहज प्रवृति है, जान लगाकर नहीं, उपयोग लगाकर नहीं, दूसरों पर अपना प्रभाव जमानेके लिए नहीं किन्तु अपनी दृष्टिके लिए अपने वचन बोलते हैं, अपनी संभाल करते हैं, साथ ही कुछ कषायें लगी हैं उससे प्रवृत्ति चलती है, लेकिन उसमें अपना लाभ प्राप्त कर लें उनकी योग्यता पर निर्भर है। पर यह निश्चित है कि विकारमें यदि रुचि जगे तो वह अनन्त संसारका कारण है और विकार करना पड़ रहा है, पर विकारमें रुचि नहीं जगती है तो उनकी अनन्त संतति समाप्त हो जाती है।

जैनशासनके लाभका सदुपयोग उठानेका निर्देश—देखिये—जैन शासन पाया तो इसका खूब सदुपयोग उठायें और लाभ भी लें, सदुपयोग भी करें, आपके ज्ञान द्वारा साध्य है, कोई शरीरका कष्ट नहीं उठाना है। कोई धन वैभव कम है तो उसकी हैरानी यहाँ बाधक नहीं है। केवल एक अपनी ज्ञानदृष्टिसे अपनेमें अपनेको निरखना है। वह बात यदि की जा सकी तो ये सर्व समागम हमारे लिए लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। प्रभुने अनन्त संसारकी सततिका छेद कर दिया है, अब ससारसे

अत्यन्त अलग है, संसार उनमें नहीं पड़ा हुआ है, ऐसे जिनेन्द्र देवके चरणोंका स्मरण ही मेरे लिए वास्तविक शरण है। धन्य होगा वह क्षण जब कि प्रभुभक्तिमें हमारा समय अधिक बीते। जिसका प्रभुभक्तिमें समय अधिक लग सकता है और सच्ची पद्धतिसे लग सकता है वह अपने आप में अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी भी उपासना अनेक बार कर लिया करता है। जिसको जिसमें रुचि है वह उसका ही संग अधिक करना चाहता है। जिसको अपने अविकार ज्ञानस्वरूपकी अनुभूतिके लिए रुचि जगी है ऐसा पुरुष ही जिनराजके चरणस्मरणमें अपना समय लगायेगा और जिसको नहीं रुचि जगी है अपने आपके सहजस्वरूपकी तो उसका तो लोकमें ही मनोरञ्जन करके समय गुजरेगा। समय पर्वतसे गिरने वाली नदीकी तरह वेगपूर्वक गुजर रहा है। जो समय गुजर गया वह किसी भी उपायसे वापिस नहीं आनेका। जिसकी जितनी आयु गुजरी है उसका अब कोई क्षण वापिस नहीं आनेका। अब जितना समय रह गया है वह भी एकदम धड़ाधड़ गुजर ही तो रहा है। समय गुजर जायगा, और कुछ इस जैन शासनसे लाभ न लिया जा सका तो सिवा पछतावाके और कुछ हाथ न आयगा अथवा पछतावा तककी भी बुद्धि न रहेगी। किसी अज्ञान वाले भवमें उत्पन्न होंगे। तो यद्यपि मन नहीं लग रहा है धर्मकार्योंमें विशेष, ऐसे अनेक जीव हैं, लेकिन धर्मकी ओर ध्यान अवश्य है। उन्हें यह चाहिए कि धर्ममें मन तो लगायेसे लगेगा। उसके लिए यह आवश्यक है कि ऐसे ग्रन्थों का स्वाध्याय करें कि जिनमें कुछ मन लग जाया और, यह सिलसिला यदि बन गया तो यह मन नियन्त्रित हो जायगा और फिर धर्मके लिए हमारी सच्ची रुचि जग जायगी। ये सब कार्य सिद्ध हो जायेंगे। वीतराग सर्वज्ञ देवकी भक्तिमें रहकर अकिञ्चन ज्ञानमात्र, ज्ञानानुभवकी ही धुन रखने वाले साधुवोंकी सेवामें हमारा यह कार्य सिद्ध होगा। और निश्चयतः मेरी अपने आपकी दृष्टिकी निर्मलतासे ही मेरा कार्य सिद्ध होगा।

बाह्यमें शरणकी मान्यताकी मूढता—इस लोकमें हम आपका बाहरमें कहीं कुछ भी शरण नहीं है। देखिये कितनी भली बात, सुगम बात, आनन्ददायक समाचार हमें जैन शासनने दिया है। इस आत्मतत्त्वके ज्ञान बिना धर्मके नाम पर भी हम कहाँ कहाँ अपना दिल लगाते हैं, कितनी दयनीय अवस्था होती, अटपट कहानियोंमें, अटपट ऋषिजनोंकी करतूतमें हम सुनकर वाह-वाह करते, कितना मिथ्यात्वमें पुष्ट रहा करते, और अब मिला है यह जैन शासन- जिसके कारण अब हमारा गल्पवादमें विश्वास नहीं रहा। जो सत्य हो, समीचीन हो उसमें ही विश्वास रहे। जो सत्य हो, समीचीन हो उसमें ही विश्वास करनेकी प्रवृत्ति बने। यह वस्तुस्वरूप

अगर हमारे प्रयोगमें, ज्ञानमें, परीक्षणमें सही उतरता है तो हम उसे माननेमें तैयार रहें। खूब परख करके वस्तुस्वरूपका निर्णय कर लीजिये, सबकी स्वतन्त्रताका निर्णय कर लीजिए। अणु-अणु प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। किसी भी पदार्थका किसी भी अन्य पदार्थ पर कोई वश नहीं चलता। निमित्तनैमित्तिक भाव तो इसका माना है कि उस योग्य परिणम सकने वाला उपादेय योग्य निमित्त पाकर स्वयं अपने आपमें ऐसा प्रभाव बनाता है कि वह अपने परिणमनसे परिणम लेता है। निमित्तने कोई अंश ग्रहण नहीं किया। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका अत्यन्ताभाव है। उपादान का निमित्तमें, निमित्तका उपादानमें तो अत्यन्ताभाव है लेकिन कार्य के प्रति अन्वयव्यतिरेकका सम्बंध है, वही निमित्त कहलाता है। घरमें रहने वाले जितने जीव हैं वे सब स्वतन्त्र हैं। पिताने कह दिया, बेटा बेटी ने मान लिया तो पिता खुश होता है, हमारे ये पुत्र पुत्री बड़े आज्ञाकारी हैं। देखो जो हम कहते हैं सो ये करते हैं, लेकिन ऐसा हो कहाँ रहा है ? पिताके कहनेसे वे बेटी बेटा काम नहीं करते, नहीं परिणमते, किन्तु उन बेटा बेटियोंके भी भाव लगा हुआ है, कषाय लगी हुई है, स्वार्थ लगा हुआ है कि जिस प्रकार पिता कहे उस प्रकारसे यदि मैं परिणति बनाऊँ तो मुझे बड़ा सुख होगा। मुझे बडे आरामसे रहनेको मिल जायगा, यह पिता ऐसी ही चेष्टा करेगा जिससे मुझे सुख हो। वे बेटा बेटी तो ऐसे भावोंमें करके अपनी चेष्टा कर रहे हैं और यह पिता ऐसा भ्रम करता है कि ये मेरे बेटी बेटे बडे आज्ञाकारी है। अरे कौन किसका आदेश मानता ? कौन किसकी इच्छासे परिणमन किया करता ? सभी अपने-अपने भावोंके अनुसार अपना-अपना परिणमन करते हैं।

वस्तुतः बाह्यमे शरणका अभाव—यहाँ इन विकारी जीवोंके बीच रहकर हम जब कभी थोड़ा बहुत यह निरखते हैं कि ये मेरे बहुत प्रेमी हैं, ये मेरी बहुत खबर रखते है, हमको सुख साधनकी सुविधा दिया करते हैं। ये सब बातें भ्रमकी हैं, कोई किसीको मानने वाला नहीं, मानना तो दूर रहा, पहिचानता तक तो है नहीं। मुझे कौन पहिचानता है ? इन ससारी जीवोंमें, इन परिजनोंमें जिनमें हमारा मोह बस रहा ये सब मेरे को जानते तक भी नहीं हैं। वस्तुत. मैं क्या हू ? यह देह मैं नहीं, ये कषाय मैं नहीं, यह ऊपरी भेष भूषा मैं नहीं। मैं तो नाम रहित ज्ञान स्वभाव वाला एक सत् हू, पदार्थ हू, इसको ये लोग कहाँ जान रहे ? और यदि कोई जान जाय तो उसके लिए मैं कहाँ रहा ? उसको दृष्टिसे तो ज्ञान स्वरूप ही रहा। मैं तू आदिक जो व्यक्ति भेद है ये भेद मेरी निगाहमें नहीं है जो मुझसे व्यवहार करता है, वार्तालाप करता है, सेवा शुश्रूषा आदिक

जो कुछ भी करता है वह मुझे पहिचानता तक भी नहीं है। तो वह मेरा क्या कर देगा? अथवा मैं ही उसका क्या करता हू? मैं अपनेमें ही बसा हुआ रहता हू, मैं अपनेमें गुनगुनाता रहता हू, भाव करता हूं, इच्छा करता हू, दु:खी रहता हू, सुख मानता हू, अशान्त रहता हू, मैं दुनियामें किसी दूसरेका कर ही क्या सकता हू, यह दृष्टि जब जगती है तब वह वास्तविक शरणकी खोज करता है और वह वास्तविक शरण इसे बाह्यमें मिला तो यह वीतराग सर्वज्ञदेवके गुणोंका स्मरण, सो वह भी देव मेरे लिए शरण नहीं, किन्तु देवके स्वरूपका स्मरण मेरे लिए शरण है तो वस्तुतः यह मैं ही अपने लिए शरण बना। तो यह जिनराजके चरण कमलका स्मरण, इनके स्वरूपका स्मरण, इनके ज्ञान दर्शन स्वरूपका स्मरण मेरे लिए शरण है और यही अनन्तानन्त संसारकी संततिके छेदका कारण है।

संसारसंततिच्छेदका त्वरित और आवश्यक कर्तव्य—एक अमोघवर्ष राजा हुए और वे अन्तमें निर्गन्थ साधु भी हुए। उन्होंने प्रश्नोत्तर रत्न-मालिका रची। उसमें एक प्रश्न किया है कि अगर बुद्धि मिली है, ज्ञान मिला है तो विवेकी विद्वान पुरुषोंको क्या कर लेना चाहिए? तो इसका देना उत्तर देते हैं। संसार संततिच्छेद अर्थात् संसारकी संततिका विनाश कर देना चाहिए। इससे उत्कृष्ट और कोई काम नहीं है। किसीकी कृपा, किसीकी आशा, किसीकी प्रतीक्षा, किसीका प्रेम, किसीका अनुराग चाहनेसे क्या लाभ है? लाभ तो इसमें है कि हम आपने सत्त्वके ही कारण अपने आप जैसा हू, उस सहज स्वरूपका निर्णय करूँ। उस सहज स्वरूपका अनुभव करूँ, सर्व विकल्पोंका परिहार करके मैं अलौकिक स्थितिमें आ जाऊँ, यह बात मेरेमें मेरेसे धीरतापूर्वक अपने आपमें समाया हुआ सा होकर, अन्तर्भूत सा होकर, अन्तर्धान सा होकर पा ली जाती है। इसमें दूसरेकी आशाकी जरूरत नहीं कृपाकी जरूरत नहीं, आधीनता की आवश्यकता नहीं, अपेक्षाकी जरूरत नहीं।

बाह्य स्थितिकी उपेक्षा करके अन्तर्दर्शनका अनुरोध—पापके उदय आ रहे आने दो। पापके उदयसे मेरा बिगाड़ नहीं है, किन्तु पापरूप बनने में मेरा बिगाड़ है। पापके उदय क्या करेंगे? ज्यादासे ज्यादा या तो बाह्य सामग्री मेरी नष्ट हो जाय, धन वैभव कुछ कम हो जाय या नष्ट हो जाय, बाह्यपदार्थ यह जो शरीर है उसमें कोई रोग हो जाय, या अधिकसे अधिक हमारी मृत्यु हो जाय इससे अधिक यह पापका उदय और क्या प्रहार कर देगा? लेकिन मैं अपने आपमें ज्ञानरूप ही हू। मैं अन्त यदि ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि बनाये रहू, मैं ज्ञानको ज्ञानमें लिए रहू तो धन वैभव चाहे सारा हट जाय, उससे इस मेरे आत्माका कोई बिगाड़ नहीं है। शरीरमें

रोग हो रहे हैं, रोग होने दो, यह शरीर तो किसी दिन जलाया भी जायेगा इसकी क्या शोभा निरखना, इसको क्या प्रक्रिया करना, क्या श्रृङ्गार करना, क्या खैर मनाना ? निरोग रहकर भी क्या मौज मानना ? रोग होता हो तो होने दो। रोगसे मेरा कुछ भी विगाड़ नहीं। मैं अपने आपमें अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि लिए हुए हूं तो मैं अपनेमें तो स्वस्थ हूं ना, मेरा तो सही स्वास्थ्य है। देह तो मैं हूं ही नहीं, यह तो गंदा है। यह तो पुद्गल है, इसमे क्या रखा ? यदि मैं अपने स्वरूपकी संभालमे रहूं तो मैं स्वस्थ हूं। पापका उदय क्या करेगा ? अधिकसे अधिक यह करेगा कि मृत्यु हो जायेगी। होने दो मृत्यु, कहीं भी जाऊँगा, उसकी भी मैं कल्पना नहीं करना चाहता। मैं मैं हूं, मैं अपने स्वरूपको निरखे रहूं, बस फिर कुछ भी बातें, कोई भव मिले, कुछ भी स्थिति बने, मैं अपने आपमें समाया हुआ रहूं, फिर मेरा कोई कुछ विगाड़ कर सकने वाला नहीं है। यदि पुण्य का उदय आया तो इसका भी क्या उठता ? जैसे लोक व्यवहारमें कहते हैं कि इसका मैं क्या करूँ ? इसका तो कुछ भी नहीं उठता। इस लोकमें हम आप सब जीव बिलकुल अकेले ही अकेले हैं। इसका कोई दूसरा न कभी हो सका, न हो सकेगा। इन अनन्त जीवोंमें से दो चार जीव यदि घरमे उत्पन्न हो गए और वे हुए बडे रूपवान, वे हुए बडे कलावान, वे हुए बड़े आज्ञाकारी, यह तो पुण्यके उदयमें मिला, लेकिन ये सब हमारी बरबादी के तेजीसे कारण बन रहे हैं। उनमें हम मोहित होते हैं, राग बढ़ाते हैं, अपने आपको भूलते हैं और उस बीच अनेक बार दुःख भी सहते रहते हैं, अनेक दुःख सहते हैं, इस पुण्यके उदयका क्या उठ गया मेरे लिए ? ये सब पूर्णतया बेकार हैं। अपने आपके स्वरूपकी संभालमें दृष्टि देकर इन सब बातों पर विचार करिये— जहाँ स्वरूपदृष्टिसे हटे और आँखें खोल कर इन मोही, अपवित्र, कर्मप्रेरित अज्ञान भरे लोगोंके बीचमें आये, इन लोगोंमें अपना बर्ताव बढ़ाया, व्यवहार बढ़ाया तो अब अनर्थ बढ़ने लगे। अब लौकिक प्रतिष्ठा की भी पड़ गई। अब रागद्वेष मोह भी बढ़ने लगे। अब बाहरी विभूतिके बढ़ाने में ही अपना बड़प्पन माना जाने लगा। सारे अनर्थ बढ़ने लगे और इनमें आकुल व्याकुल होने लगे।

विपरीतमे लगाव न रखकर अनुरूपमे लगावका कर्तव्य—देखो भैया बाह्य में ये सब जितने बढ गए हैं ना, वे सब उल्टे रास्तेमें बढ़े हैं और जितना पढ़ गए हैं ना वे सब उल्टी पाटी पढ़े हैं। उन सबको भूल जाइये और फिर अपने आपकी पाटी पढ़िये, अपनी दृष्टि करिये, उन सबको हम धूँकी जड़ समझते हैं। तो अपने आपको जो ऐसा अनुभव करे कि मैं इस लोकमें अकेला ही हू और जो कुछ बीतेगा मुझ अकेले पर ही तो

बीतेगी। और जो कुछ मुझे करना है वह अकेले ही तो करना है। मेरा कोई साथी नहीं, कोई शरण नहीं, कोई मददगार नहीं, मेरे परिणामोंमें उ व आकुलता होती है, अज्ञान जगता है, मोह उठ रहा है, इससे दु ख हो रहा है उसको मिटानेके लिए स्त्री पुत्रादिक समर्थ नहीं हैं। इसकी चेष्टा तो उस मोहके दु:खको बढ़ानेका कारण बनेगी। कितना अपने आपको अपनेमें नियंत्रित करना है, कैसे करना है, कैसा अपने आपमें अपनेको समा देना है, यह बात सीखने से मिलती है, वीतराग सर्वज्ञदेवके स्वरूपसे उनकी भक्ति से। इस कारण लोकमें मुझे यदि कोई शरण है तो निष्काम निर्विकार पूर्ण पवित्र ज्ञानपुञ्ज परमात्मका स्मरण ही शरण है।

प्रभुसे शरण्यताका नाता—प्रभुसे मेरा शरण पानेका नाता बहुत जल्दी बन जायगा। जैसे यहाँ कहते ना कि इसका और इसका नाता बहुत जल्दी हो जायगा क्योंकि यह भी समझदार धनी और समझदार धनी। अरे यहाके रिश्ते पक्के कच्चे हों न हों, पर मेरा और प्रभुका रिश्ता अवश्य ही जल्दी पक्का हो जायगा, कारण यह है कि मेल खा गया है। मुझमें मेरा स्वरूप भी परमात्मा सदृश दीखा है और परमात्माका जो विकास है वह जिस कारणपरमात्मतत्त्वका आलम्ब न लेकर हुआ है वह मेरे ही समान है, और जब मेरी सदृशता है तो मेरा और भगवानका जो रिश्ता है यही सही और पक्का बनेगा, दूसरेके साथ हमारा पक्का रिश्ता हो ही नहीं सकता। तो इतना सुगम इतना निकट इतना स्वाधीन यह परमात्माका मेरा सम्बध, यही मेरे लिए शरण बनेगा, दूसरा और कोई मेरे लिए शरण न होगा, तो जो समाधि भावको इष्ट मान रहा है समाधिभक्त सत समाधि की साक्षात् मूर्ति जिनेन्द्र भक्तिके स्तवनको शरण मानकर बस यहाँ ही तृप्त होता है।

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्य भावेन रक्ष-रक्ष जिनेश्वर ॥१५॥

अविकारताके अतिरिक्त अन्य भावमें शरण्यताका अभाव—इस जीवका रक्षक यही है कि यह शान्तिमें रहे। जब यह शान्तिमें नहीं रहता तो इसकी अरक्षा है। अब परख कर लो कि हम शान्त रह सकें इसका कौन सा उपाय है? सब जगह यह जीव भाव-भावके सिवाय और कुछ तो करता नहीं, और मैं करता हू ऐसा, यदि यह प्रतीति है तो वह पूरा भ्रम है। जब मैं भावोंके सिवाय अन्य कुछ कर नहीं सकता तो यहा यह परख करनी चाहिए कि मैं कैसा भाव बनाऊँ तो मुझे शान्ति मिले। जब रागद्वेष मोहका भाव बनता है तब यह जीव अशान्त रहता है, किसी दूसरे चेतन अथवा अचेतनके प्रति यदि यह भाव रहता है कि ये

मेरे हैं, मैं इनका हूं, इनसे मुझे सुख मिलता है आदि, तो फिर उसे चैन नहीं पड़ सकती, क्योंकि बाह्यमें दृष्टि लगाये हुए है। बाह्यकी ओर दृष्टि करे ऐसे परिणाममें शान्ति कहांसे प्राप्त हो सकती है? यह बात रागद्वेष के परिणाममें भी है। मोह रागद्वेषसे रहित निराला केवल ज्ञाता दृष्टा रहे, ऐसी स्थिति बने तो शान्ति मिल सकती है। ऐसा भाव बनानेके लिए यदि हमारा कुछ आलम्बन हो सकता है तो वह है प्रभुभक्ति। प्रभुकी शरण गहना, शरण उसे कहते हैं कि अब अपना सब कुछ समर्पण कर दे। अपनेमें कोई अभिमान न रहे। तो प्रभु अर्थात् जो रागद्वेष रहित, मोह रहित शुद्ध ज्ञान पिण्डको यदि अपना समर्पण कर दे उनकी शरण गहें तो इस जीवको शान्ति मिलती है और निश्चयतः ऐसा ही जो अपना स्वरूप है, उस ही की शरण गहेंतो शान्ति मिलती है।

निज भावके सिवाय अन्यकी क्रियमाणताका अभाव—इस प्रसंगमें इतना तो निर्णय कर ही लेना चाहिए कि मैं भावोंके सिवाय कुछ नहीं करता, शुभ भाव करता हूं और पुण्य बांधे लेता हूं, भाव करता हूं और पाप बांध लेता हूं। यदि शुभ अशुभ भावोंसे रहित केवल शुद्ध भाव करूँ तो वहाँ कर्म कट जाते हैं। भावोंके सिवाय मैं अन्य अन्य कुछ कर ही नहीं सकता। दो भाई थे देहातके। गरीब परिस्थिति थी। एक दिन रसोई घरके लिए लकड़ियां भी जंगलसे लानी थी और उसी दिन उनकी पूजा करनेकी भी बारी थी। तो मानो बड़े भाईने कहा कि तुम आज पूजा करने चले जाओ और हम जंगल से लकड़ियां लेने चले जावें। सो बड़ा भाई तो जंगल चला गया और छोटा भाई पूजा करने मंदिर गया। उधर बड़ा भाई सोचता है कि मैं कहां आफतमें पड़ गया? छोटा भाई तो प्रभुके गुण गाकर प्रसन्न हो रहा होगा। और मंदिरमें पूजन करने वाला छोटा भाई सोचता है कि मेरा बड़ा भाई जंगलमें वृक्ष पर चढ़ रहा होगा, लकड़ियों तोड़ रहा होगा, आम, जामुन आदिके फल तोड़ तोड़ कर खा रहा होगा, बड़ा खुश हो रहा होगा। अब आप यह बताओ कि पुण्यबंध किसने किया? पुण्य बंध किया बड़े भाईने जो जंगलमें लकड़ियां तोड़ने गया था और मंदिरमें पूजन करने वालेने पापबंध किया। तो भाई, भावोंका ही फल है। भावोंके सिवाय हम आप करते ही क्या हैं। जैसा भाव बनाते हैं वैसा ही फल पाते हैं। इस कारण हम आपको अपने भावोंकी बड़ी संभाल करनी चाहिए। आपने छोटे-छोटे बच्चोंको पगंतका खेल खेलते हुए देखा होगा। कुछ पत्तियां परोस दीं और कह दिया ये हैं रोटियां, कुछ कंकड़ परोस दिये और कह दिया यह है गुड़। अरे वहां कहां गुड़ है? कहां रोटियां रखी हैं? जब भाव ही बना रहे हैं तो अच्छे भाव क्यों न बनायें?

पत्तों को परोस कर कहें ये पूड़ी कचौड़ियां हैं, कंकड़ोंको परोसकर कहें ये बूँदीके लड्डू हैं। जब भाव ही बनाना है तो अच्छे भाव क्यों न बनाये जायें। ऐसे ही मदिरमें, प्रभुभक्ति करते समय हम आप अच्छे भाव क्यों न बनायें? हे प्रभो! मैं यही भावना करता हूं कि मेरी बुद्धि स्पष्ट रहे और आपकी ओर लगी रहे।

विराग प्रभुकी शरण्यताका विवेचन—हे प्रभो! आपको छोड़कर अन्य किसीकी शरणमें जाऊं? कौन मेरा राखनहार है? कौन मेरी रक्षा कर सकेगा? आपके सिवाय जब अन्यपर दृष्टि जाती है तो वे सब दु:खी नजर आते हैं। जो स्वयं दु:खी है उसकी शरण लेनेसे क्या दु:ख मिट सकेंगे? जो स्वयं शान्त हैं, सुखी हैं, आनन्दमय हैं, उसकी ही शरण लेनेसे शान्ति प्राप्त होगी। हे नाथ! अन्य प्रकार मेरा और कुछ कहीं शरण नहीं है। अपने जीवनमें प्रभुभक्तिका आनन्द लूट लो। कुटुम्बभक्ति तो बहुत की। जो चित्तमें बसा रहे भक्ति तो उसीकी कहलाती है। कुटुम्बको चित्तमें बहुत बसाया तो उस भक्तिसे लाभ कुछ न मिला। अब प्रभुको अपने चित्तमें बसाना चाहिए। अपना यह निर्णय रखिये कि समस्त बाह्य पदार्थ ये मेरे लिए शरणभूत नहीं हैं। मेरे लिए शरण तो केवल एक प्रभु की उपासना और अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपकी उपासना है। अपना स्वरूप भी प्रभु है और जो स्पष्ट वीतराग हो गए वे तो प्रभु हैं ही। तो प्रभुताकी उपसना करनेसे शान्ति मिलेगी, पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी उपासना से शान्ति नहीं मिल सकती है। तो हे प्रभो! हे वीतराग सर्वज्ञ पावन परमात्मन्! आपको छोड़ कर अन्य प्रकारसे मेरे लिए शरण नहीं है। तुम ही मात्र एक शरण हो। इस कारण हे प्रभु जिनेश्वरदेव! अब कारुण्यभाव से मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।

निर्मोह होकर ज्ञानरूपकी उपासनामें ही धर्मलाभ—भाई दो ही तो काम करने हैं – एक तो प्रभुभक्ति और दूसरा–अपने ज्ञानस्वरूपकी उपासना। इन दो कार्योंको छोड़कर बाकी जितने भी प्रयास हैं वे सब मोहके, मूढ़ताके प्रयास हैं। मदिरमें प्रभुदर्शन करने जाते हैं तो उसका प्रयोजन यही है कि प्रभुस्वरूपको देखें और अपने आपके सही स्वरूपकी पहिचान करें, जिससे मोह छूटे। मोह छूटे यही धर्मपालन है। मोह रहे यही अधर्मका करना है। ऐसा हो सकता है कि मोह न रहे पर कुछ काल तक कारणवश राग करना पड़े। राग होने पर भी मोह न रहे तो वह राग टिक न सकेगा। मोह होनेसे अनन्त संसारका भ्रमण होगा। मोह मिट जानेपर यह राग स्वयं ही छूट जायगा। इस जीवको क्लेशका कारण है मोहभावका करना। जैसे कोई रईसको रोग हो जाय तो उसके लिए कितने अच्छे साधन बनाये जाते

हैं। अच्छा पलंग, अच्छा विस्तर; कई नौकर चाकर, खूब साफ स्वच्छ वस्त्र, डाक्टर भी बार-बार आकर खबर लेता, खूब मित्रजन भी उसके पास मिलने जुलने आते रहते हैं। सभी लोग उसकी दवाका व हर प्रकारका बड़ा ख्याल रखते हैं, इतना सब होते हुए भी क्या वह यह चाहता है कि मुझे इस तरहका आराम जीवन भर मिलता रहे? अरे वह तो चाहता है कि मुझे कब इस बीमारीकी झँझटसे फुरसत मिले और मैं प्रतिदिन मील दो मील चलूँ फिरूँ? यदि उस रईस को समय पर दवा नहीं मिलती है अथवा सब प्रकारके अच्छे साधन नहीं मिलते हैं तो वह बहुत झुँझलाता है, फिर भी उसका उन सबमें मोह नहीं है? वह दवा न पीनी पड़े इसके लिए दवा पी रहा है। तो मोह न रहनेसे रागमें कुछ बल नहीं रहता। वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो तो वहाँ मोह नहीं रह सकता। प्रत्येक पदार्थका अपना-अपना जुदा-जुदा परिणमन है। यह बात जैन शासनने घोषणाके साथ कही है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत। प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। अपनेमें ही बनता है, अपनेमें ही बिगड़ता है और अपनेमें ही बना रहता है। सब पदार्थोंका यही स्वरूप है। फिर किसका कौन क्या कर लेगा? किसीका कोई कुछ नहीं है। वस्तु स्वातंत्र्यकी परख करके निर्मोहताका भाव अवश्यमेव जगता है।

भ्रमके हटनेके साथ ही संकटोंका हटना—भैया! निर्मोह हुए कि समझ लीजिए संकट टले। भ्रम मिटा कि संकट दूर हुए। दिवालीके दिनोंमें किसी सेठके घर गेरूके रंगसे कुछ पुताई हो रही थी तो सेठकी लड़कीने जब शाम हो गयी तो गेरूके रंगसे भरा लोटा सेठकी खाटके नीचे रख दिया। सेठकी आदत थी अंधेरेमें प्रतिदिन कुछ शौच जानेकी। सो सेठ जब प्रात'काल उठा तो वही गेरूके रंगसे भरा लोटा लेकर शौच गया। जब शौचसे निपट चुका और कुछ प्रकाश होनेसे कपड़ोंमें लाल लाल खून जैसा लगा हुआ देखा तो सोचने लगा– ओह! आज तो मेरे शरीरसे न जाने कितना खून निकल गया। उसे खूनका भ्रम हो जानेसे बड़े जोरका शिर दर्द हुआ और घर आते ही आते उसके बुखार भी चढ़ आया, खाट पर लेट गया। कुछ देर बादमें जब दिन काफी चढ आया, फिर उस सेठकी लड़की को घर पोतनेका काम करना था, तो आकर उस सेठसे वह लड़की कहती है पिताजी, हमने जो गेरूके रंगसे भरा हुआ लोटा आपकी खाटके नीचे शाम को रख दिया था वह कहाँ गया? तो सेठने इतनी बात सुनते ही सच्ची बात समझ ली, लो खूनका भ्रम मिट जानेसे वह उसी समय चंगा हो गया। तो भाई परवस्तुवोंके प्रति भ्रम होनेके कारण इस जीव पर ये दु ख लदे हुए हैं। अगर यह भ्रम मिट जाये तो फिर ये दु ख कहाँ ठहर सकते

है ? अरे मेरा तो मात्र मेरा ही ज्ञान, मेरा ही दर्शन, मेरी ही शक्ति, मेरा आनन्द, ये सब गुण यही मात्र मेरे है। ऐसा एकत्वका निर्णय तो हो फिर यह दुःखका नाम न रहेगा। बात एक ही है जीवन भर करनेकी। यही एक मात्र याद रख लीजिए, जीवन सफल हो जायगा। मेरामात्र मैं ही हू, और यह मैं भावोंके सिवाय और कुछ करता नहीं, जैसे भाव मैं बनाता हू इसीके अनुसार मेरी सृष्टि बनती है। सिवाय भाव बनानेके अन्य कुछ काम मैं नहीं करता, इतनी दृष्टि यदि रहेगी, ऐसा विश्वास यदि रहेगा तो अवश्य ही हम ससार संकटोंसे मुक्ति पा लेंगे, जन्म मरणके दुःख दूर कर लेंगे। हे प्रभो ! यह सामर्थ्य, यह बल आपकी भक्तिसे प्राप्त होता है, इसलिए आप ही मेरेको शरण हैं, इस कारण हे प्रभो ! आप मेरी रक्षा करें। तो आपके गुणस्मरणमें मेरा उपयोग बना रहे, समाधिभक्त ज्ञानी सत केवल यह अभ्यर्थना प्रभुसे करता है।

नहि त्राता नहि त्राता नहि जगत्त्रये।
वीतरागात् परो देवो न भविष्यति ॥१६॥

आत्मशरण—हमारी रक्षा इसी बातमे है कि हममें रागद्वेष मोहकी तरंग न उठे और हम एक जाननहार रहें। जिसको भी अपने आपपर दया आती हो कि मुझे ससारमे अब नहीं रुकना है। जन्म मरणके दुःखोंको मैं अब नहीं चाहता तो मेरा यह कर्तव्य होता है कि ऐसा ज्ञान बनायें, ऐसा उपयोग बनायें कि रागद्वेष मोह रूप न वर्ते और इस बातके लिए बाहरमें किसकी शरण लें ? तो मेरा शरण बाहरमें वही आत्मा हो सकता है जो रागद्वेष मोहसे बिल्कुल दूर हो। उसीको कहते हैं वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा, भगवान। उस वीतराग देवसे परे अन्य कोई देव न मेरा कभी रक्षक हुआ है और न हो सकेगा। हम जब दूसरेका सहारा तकें कि जिससे उत्कृष्ट कोई दूसरा न हो।

अपने ज्ञानपर अपने वेदनकी निर्भरता—भैया ! सही बात तो यह है कि हमपर जो कुछ बीतता है वह हमारे उपयोगसे ही बीतता है। बाहर कोई कहीं बड़ा रोजगार चल रहा हो और वहा अगर किसीका लाख दो लाख का नुक्सान हो गया और खबर उल्टी मिली तो हुआ तो वहा नुक्सान पर यहा वह सेठ खुश हो रहा है अथवा हुआ हो वहां फायदा और खबर आ जाय कि नुक्सान हो गया तो यहा वह सेठ दुःखी हो रहा है। तो यहा तो ये सुख दुःख बाहरी चीजों पर निर्भर नहीं हैं। उन बाहरी चीजोंके प्रति जो विचार बनाये जाते हैं उन विचारों पर ये दुःख सुख निर्भर हैं। एक बात और विचारिये कि उसे जो फायदेकी बात सुनकर खुशी हुई अथवा नुक्सानकी बात सुनकर दुःख हुआ या वह भी उस बातसे सुख

अथवा दुःख नहीं हुआ, किन्तु उस घातको सुनकर जो गहरे रूपमे विचार उससे उसे सुख अथवा दुःख हुआ। अगर उस नुक्सानकी बात सुनकर भी यदि वह सेठ विवेकसे काम लेता कि अरे उस नुक्सानसे मेरा क्या बिगाड़ हो गया, वे तो परपदार्थ हैं, मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, मै आत्मा तो इस देहसे भी निराला ज्ञानमात्र हू, तो इस प्रकारके विचार यदि वह सेठ बना लेता तो कहां उसे दुःखी होना पड़ता ? तो जब ये सुख दुःख अपने उपयोग पर ही निर्भर हैं तो अपना ऐसा उपयोग बनायें कि जिमसे शान्ति मिले। और जो शान्त पुरुष हो उन पर ही हमारी दृष्टि रहे। ये जगतके बीचके झगड़े हैं। रागद्वेष मोह आदिकके ये सब झगडे हमारी कुबुद्धिके कारण बन रहे हैं। हम आश्रय तकें, देव मानें, भगवान माने तो उस को मानें। उसका आलम्बन, उसका स्मरण ही मेरे लिए शरण है। वीतराग उत्कृष्ट स्वरूपदेवके सिवाय अन्य कोई देव इस लोकमें मेरा रक्षक नहीं है, इस प्रकारका दृढ़ निर्णय है समाधिभक्त ज्ञानी संतका।

समाधिभक्त संतका लक्ष्य—जिसने यह निर्णय कर लिया है कि समता परिणाम ही मेरे लिए शरण हैं, रागद्वेष मोहादिककी बातें मेरे लिए शरण नहीं हैं वह समझो समधिभक्त बन गया। समाधिभक्त पुरुष समाधिमूर्ति ज्ञानपुञ्ज वीतराग अविकार निर्दोष परमात्मतत्त्वको अपना शरण समझता है। जैन शासन पानेकी सबसे बड़ी देन यही है कि वस्तुस्वरूपको यथार्थ समझते रहें। वस्तुके यथार्थ स्वरूपके जाननेसे ही मोह मिट रहा है। मोह न रहे, इससे बढ़कर कोई वैभव नहीं है। यदि इस मोहको हटानेका व अपनेको केवल ज्ञानमात्र अनुभव करनेका हम जरा भी विचार नहीं करते तो हमारा यह जीवन बेकार है। भले ही अच्छे पुत्र हैं, अच्छी स्त्री है, अच्छा घर है, सभीका अच्छा बर्ताव है, बड़ी मौज है, बड़े सुखसे रहते हैं, लेकिन इस सुखका क्या उठेगा ? मृत्यु तो निकट आ रही है। यह भव छोड़कर जाना ही पड़ेगा, यहाँके प्राप्त समागम कुछ भी तो साथ न जायेंगे। यह मोह तो इस जीव पर सबसे बड़ी विपत्ति है। तो हम इस मोहको दूर करनेके यत्नमें रहना चाहिए। गुरुवोंसे मिले तो, तीर्थ यात्रायें करें तो, दर्शन, पूजन, पठन आदि करे तो, सभी प्रसगोंमें उद्देश्य यही रहना चाहिए कि किसी प्रकार मेरा मोह तो हटे कि वास्तवमें मेरा कोई कुछ है नहीं, कोई कुछ रहेगा नहीं, कोई कुछ मेरा था नहीं। अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं वे सब जीव। ये जड़ वैभव न मेरे कुछ हैं, न कभी हुए, न कभी हो सकेंगे। उन्हें मैं अपना मानूँ तो ये मिथ्या कल्पनायें ... मिथ्याभाव हैं, और मिथ्याभावकी कभी विजय नहीं हो सकती। देखो ! ... पदार्थ बिछुड़ेंगे, नष्ट होंगे और इनके स्नेहके कारण जो पापकर्म बँधे

उनका फल मिलेगा। जिन चीजोंमें हम आप इतना मोह कर रहे हैं और पापकर्म बाँध रहे हैं वे चीजें तो मिलेंगी नहीं, लेकिन जो पाप बाँधा है वे पापकर्म फल दिए बिना खिरेंगे नहीं। इस कारण मोह करना मेरी बरबादीका ही कारण है। यह मोह दूर हो, इतनी बात हमारे चित्तमें अवश्य आनी चाहिए।

अमीरी और गरीबी—भैया! हम आपके पास कुछ वैभव ही क्या है, बड़े-बड़े तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि अटूट वैभवके स्वामी होते हैं। लेकिन इतने बड़े वैभवको प्राप्त करके भी सम्यग्दृष्टि पुरुष उन समस्त वैभवोंसे निराले रहते हैं। उनके चित्तमें यह बात रहती है कि सारा वैभव मेरा कुछ नहीं है। लेकिन इन मोह जीवोंकी यह दशा है कि थोड़ासा भी धन मिल जाता है तो उसे वे अपना सर्वस्व समझ लेते हैं, उसे छोड़ना नहीं चाहते, उसको ठीक-ठीक समझना भी नहीं चाहते। तो मोहके त्यागे बिना शान्ति पा लें यह बात हो नहीं सकती। बात तो जो सही है वह चित्तमें समा जानी चाहिए। परपदार्थोंका सम्बन्ध, परपदार्थोंका राग जब तक नहीं छूट रहा, न सही, पर सही बात जान लेनेमें तो कुछ आपत्ति नहीं है। शान्ति मिलेगी, इसलिए यह यथार्थ निर्णय रखें कि जब यह देह तक मेरा नहीं है तो फिर ये जो प्रकट भिन्न परपदार्थ हैं, ये मेरे होंगे ही क्या? जब कर्म विपाकवश उत्पन्न हुए ये रागादिक भाव भी मेरे नहीं हैं तो अन्य पदार्थ मेरे क्या हो सकेंगे? इस प्रकारका ठीक निर्णय रखें और अमीर बनें। यदि सच्चा ज्ञान नहीं है तो समझिये कि हम पर बड़ी गरीबी छाई है। गरीबी किसे कहते हैं? उस स्थितिको जिसमें परकी आशा लगायी जा रही है। यदि सत्य ज्ञान नहीं है तो आशा तो न मिटेगी। परकी आशा हम रखें और ऐसी श्रद्धापूर्वक रखें कि परसे ही हमें सुख मिलेगा, इससे ही मेरा बड़प्पन है, तो ऐसा जो परिणाम है, अज्ञानका जो भाव है यह गरीबी है। यह जड़ वैभव अधिक हो गया तो उससे गरीबी न मिटेगी। अथवा जड़ वैभव न रहे तो जो ज्ञानी है उसके गरीबी न आयगी। भावकी गरीबी है, भावकी अमीरी है, भावोंमें ही सुख है, भावमें ही दुःख है। हम और लोगोंमें जो बहुत समय रहा करते हैं, दुकानके कारण, व्यापारके कारण, व्यवहारके कारण, उनमें रहकर बुद्धि और फिर जाती है और चित्त चाहता है इज्जत हो मेरा बड़प्पन रहे, ये लोग मुझे कुछ समझें। इस प्रकारके जो भाव हैं वे बड़ी गरीबीके भाव हैं। उनसे क्या आशा रखें? आश्रय तके तो वीतराग सर्वज्ञ प्रभुका। मोही, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, कर्मप्रेरित, दुःखी, प्राणियोंकी हम क्या आशा तकें कि ये लोग मुझे कुछ समझें? अरे प्रभुके ज्ञानमें हम अच्छे रहें, इस तरहकी आशा

रखनी चाहिए। तो वीतरागसे उत्कृष्ट देव न कोई हुआ, न होगा और न कोई मेरा रक्षक है, न होगा। वीतराग देवका स्मरण ही मेरा रक्षक है।

जिनेभक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भव भवे॥ १७॥

समाधिभक्तिकी समाधिमूर्तिभक्ति—जिन्होंने रागद्वेषमोहको नष्ट कर दिया है ऐसे वीतराग जिनेन्द्रमें, ऐसे जिनेन्द्र प्रभुमें, ऐसे ज्ञानपिण्डमें मेरी भक्ति दिन-दिन रहे। समाधिभक्ति पुरुष अपने आपको प्रभुमें समर्पण कर दे। मेरा शरण केवल वह ज्ञानज्योति ही है, मेरे हाथ पैर हैं। जो मैं हाथ पैरसे प्रभुके पास जाऊँ। प्रभु भी ऐसा कोई शरीरधारी नहीं है कि जहाँ वे विराजे हों वहाँ मैं पहुचूँ। प्रभु भी ज्ञानपिण्ड हैं और मेरे भी हाथ, पैर, अंग, अवयव आदिक शरीर बिना ज्ञान हैं। ज्ञानके द्वारा मैं उस ज्ञान पिण्डको अपने ज्ञानमें बसालूँ, बस यही प्रभुका मिलन है। प्रभुका दर्शन अन्य भाँतिसे नहीं हो सकता। समस्त परपदार्थोंका विकल्प तोड़कर अपने ज्ञान द्वारा अपने ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपको बसालें तो एक अलौकिक आनन्दका अनुभव होगा। उस अनुभूतिमें प्रभुका साक्षात् मिलन हो रहा है। वीतराग ज्ञानपुञ्ज प्रभुमें मेरी भक्ति सदा रहो, भव-भवमें रहो, जब तक मुझे इस संसारमें रहना पड़ रहा हो तब तक प्रत्येक भवमें यह प्रभुभक्ति मेरे चित्तमें रहे। जो पुरुष जिसके स्वादका आनन्द ले लेता है और हो वह आनन्द बहुत उत्कृष्ट तो उसकी याद रहती है, विस्मृति नहीं होती है और उत्सुक बराबर उसीके लिए रहता है। जिस ज्ञानी पुरुषने चेतन अचेतन समस्त परिग्रहोंको भिन्न जानकर अपने आपमें बड़े आरामसे रहकर एक सहज स्थितिका अनुभव कर लिया है और उसमें अनन्त आनन्दका अनुभव कर लिया है उस पुरुषको जगतकी कोई बाहरी बातें कैसे सुहा सकती हैं? पर-पदार्थोंमें सार है, उनसे मेरा उद्धार है इस प्रकारका भ्रम वे कभी नहीं कर सकते। जैसे रस्सीको साँप समझने वाला पुरुष घबड़ाता है, दुःखी होता है, कभी हिम्मत बनाकर थोड़ा निकट जाकर परख करे तो उसे और हिम्मत बढ़ती है कि यह तो साँप सा नहीं मालूम होता, और निकट गया, बिलकुल पासमें गया तो उठाकर देख लिया कि यह तो कोरी रस्सी है। अब उसे कोई कितना ही बहकाये कि यह तो साँप है तो वह कैसे मान लेगा? जब स्पष्ट अनुभवमें आ गया कि यह रस्सी ही है तो अब उसे भ्रम नहीं हो सकता। पहिले भ्रम था, इसी प्रकार यह जीव अनादि कालसे भ्रम ही भ्रम करता चला आया और उस भ्रमके फलमें अनन्त दुःख भोगे, लेकिन इस जिनवाणी माताकी परम कृपासे आज भ्रम दूर हुआ है, सत्य समझा है कि जगतके अणु-अणु जगतके प्रत्येक जीव सब प्रकारसे एक

दूसरेसे भिन्न हैं, अब इसे कोई कितना ही प्रलोभन देकर भ्रममें डालना चाहे तो यह भ्रममें नहीं पड़ सकता। अपने आपका अनुभव इतनी बड़ी महिमा रखता है। तो ऐसे ही जो भगवान हुए हैं, ज्ञानमूर्ति उनकी ही भक्ति मेरे चित्तमें रहो।

कल्याण लाभका धाम—यद्यपि दुनियावी लोगोंकी नजरमें ऐसा दिखेगा कि भगवानसे हम क्या चाहें? उनके पास तो कुछ भी नहीं है, वे तो केवल ज्ञानमात्र हैं, ज्ञानज्योतिस्वरूप हैं, उनको छोड़कर किसी धनिककी सेवा करें तो उससे तो कुछ धन भी मिल जायगा, प्रभुसे क्या मिलता है? लेकिन आपने कभी यह सोचा भी होगा जिस समुद्रमें अथाह जल है उस समुद्रसे क्या कभी कोई नदी भी निकली है? जिस पहाड़ पर एक बूँद भी नजर नहीं आती उस पहाड़से बड़ी-बड़ी नदियां और बड़े बड़े स्रोत नाले निकल आते हैं। तो इसी तरह जानो कि जिसके पास कुछ भी धन वैभव नहीं है, स्त्री पुत्रादिक नहीं हैं, केवल ज्ञानपुञ्ज है उस ज्ञानपुञ्जके स्वरूप के अन्दर तो देखिये, उसमें लगावसे आपको वह वैभव प्राप्त हो सकता है जो शाश्वत है, जो सदा संकटसे बचा देगा और साथ ही जब तक संसारमें रहना है तब तक भी उस ज्ञानमूर्ति भगवानकी उपासनासे वे वैभव मिलेंगे जो वैभव अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंको नहीं मिल सकते। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बड़े इन्द्रादिक होना ये सब पद इस ज्ञानके प्रतापसे ही मिल सकते हैं, अज्ञानसे नहीं मिल सकते। यहाकी तो ऐसी बात है कि पुण्यका उदय तो था ज्यादाह और यहा मांग बैठे थोड़ा तो उसे थोड़ा मिल जाना आसान सा हो जाता है और लोग यह समझ लेते हैं कि इन मोहियोंकी सेवा करनेसे मुझे इतनी श्रीका लाभ हुआ है, ये सब पुण्यपापके ठाठ हैं। अपने आपको अपने आपमें निरखिये कि मैं अकेला हूं, मेरा कोई दूसरा साथी नहीं है। हम अपना भला चाहते हैं तो हमें अपनेको अकेलेमें ही कुछ करना पड़ेगा। मेरा कोई दूसरा मददगार नहीं है, चाहे कोई कितना ही प्रेमी हो। मेरे असली कामके लिए सदाके लिए समस्त संकटोंसे छूट जानेके लिए मेरा मैं ही काम आ सकता हूं। मेरे काम कोई दूसरा नहीं आ सकता। हां इस कार्यके लिए एक स्मरणके विषयके रूपमें वीतराग सर्वज्ञदेव मेरे काम आयेंगे। पंच परम गुरु अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु, इनकी सेवा एक निर्मोह होनेकी दृष्टिसे कोई करता है तो वह सेवा तो शरणभूत है, बाकी अन्य जीवोंकी सेवा, अन्य जीवोंका सम्पर्क, उनमें घुलमिलकर रहना रहना, मौज मानना, यह लाभदायक बात नहीं है। हालाकि जीवनमें थोड़ा यह भी हो जाता है, हो, किन्तु अपने उद्देश्यसे अगर भूल करके रहे तो समझो कि हम बड़े भारी संकटमें हैं। तो अपने उद्देश्यको न भूलें, सच्ची अमीरी प्राप्त करना चाहिए। तो ऐसे जो पूर्ण

सच्चे अमीर हैं वीतराग निर्दोष निर्विकार, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति अनन्तआनन्दसे सम्पन्न वीतराग जिनेन्द्रदेवमें मेरी भक्ति दिन-दिन रहो, सदा रहो, भव-भवमें रहो। यदि अपने पुरखोंके विरुद्ध चले तो सपूत कहलानेके अधिकारी हम नहीं हैं। अपने पुरखा कौन हैं? अपने जो दादा, बाबा, परदादा आदि हुए उनकी बात हम नहीं कह रहे किन्तु पुराणपुरुष महापुरुष हो गए हैं उनकी बात हम कह रहे हैं। बड़े-बड़े तीर्थंकरोंने, बड़े बड़े नारायण बलभद्र आदिक महापुरुषोंने क्या किया? वह यदि हम श्रद्धामें रख सकें, कर सके तो हम आप इस चैतन्य कुलमें सपूत कहलानेके अधिकारी हैं और रागद्वेष मोहमें ही रहे तो हम उन पुरखोंके सपूत कहलानेके अधिकारी नहीं हैं।

अपनी संभाल बिना विडम्बना—जरा इन पशुवोंके क्लेश तो देखिये झोंटोंको बाँध दिया धूपमें, उसकी कुछ खबर ही न रहे तो बंधा ही रहे वह धूपमें। कितना बलवान होता है झोंटा, फिर भी एक पतली रस्सीमें बँधा हुआ वह दुःख भोग रहा है। इस आत्मा पर कितना बड़ा अन्याय हो रहा है। सूकर, मुर्गा, मुर्गी, आदिक पशुवोंकी तो लोग कुछ कीमत ही नहीं आँकते। जब चाहे गर्दन पकड़ कर मरोड़ देते हैं या छुरीसे काट देते हैं। ये जीव हैं क्या? ये हम आपके ही समान तो हैं। हम आप भी कभी यही थे और अगर न संभले तो फिर ऐसा ही बनना पड़ेगा। आज जरा-जरा सी बातमें हम आप दुःखका अनुभव करते हैं और समस्या सामने ऐसी कष्टकी रख लेते हैं कि उसमें उलझे रहते हैं और अपना हित नहीं कर पाते। मगर देखो तो सही ये दुःख तो कुछ भी नहीं हैं जिनका हमने पहाड़ बना रक्खा है। इन पशु, पक्षी, कीड़ा मकौड़ोंके दुःखों का तो जरा कुछ विचार कीजिए। जब हम आपको भी ऐसे दुःख मिलेंगे तब क्या होगा तो इससे भला यह है कि इस जीवनमें किसी भी स्थितिमें दुःख न मानें। कुछ भी हो रहा हो, दृष्टि दें कि ये परपदार्थ हैं, इनका ऐसा परिणमन हो रहा है, घरके आदमियोंकी परवरिश बहुत ऊँचे स्तरसे नहीं हो पा रही है तो दुःख मत मानो। ऐसा समझलो कि इनका ऐसा ही उदय है, ऐसा ही इनका भाग्य है। ये अपने पुण्यके माफिक अपना व्यवहार चला रहे हैं, मैं इनका क्या करता हूं? मैं तो केवल भाव ही करने वाला हूं, अन्य कुछ नहीं करता हूं, घरमें जो लोग रहे हैं उनपर उनके कर्मानुसार बीत रही है, उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है, न उन पर मेरी कोई करतूत है। किसी भी घटनामें खेद खिन्न मत हो इस जीवनमें। बड़ी दुर्लभतासे यह नरभव प्राप्त किया है। इस नरभवमें अपने सहज ज्ञान स्वरूपको देख देख कर खुश रहें, उसकी उपासनामें ही रहें तो समझिये कि हमने कुछ पुरुषार्थ

किया, अन्यथा यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है; यहाँके मरे न जाने कहाँके कहाँ पैदा होंगे, न जाने क्या बीतेगी? आज तो कुछ हमारे हाथमें है, ऐसा लग रहा है, पर उन पशु पक्षी, कीड़ा मकौड़ाके भवोंमें पहुचकर तो ऐसी स्थितियाँ बीतेंगी कि कुछ भी मेरे वशका न रहे। यहाँ श्रेष्ठ मन है, ज्ञान व विवेक है, सत्संग भी मिलता है, उपदेश भी मिल रहे हैं, ऋषि संतोंकी अपार करुणा भी मिल रही है,सब कुछ मेरे हाथ है। मैं ज्ञानको सभालूँ तो मैं अपना उद्धार कर लूँगा। यहाँके मरे न जाने कहाँके कहाँ पैदा होंगे, न जाने किस गतिमें जायेंगे, फिर क्या हाथ रहेगा? यहाँ ही यदि विवेक नहीं कर पा रहे हैं, अपने आपके उद्धारकी बात नहीं कर सक रहे हैं तो यह बहुत बड़ी गल्ती कर रहे हैं। यहाँकी चिकनी चौपड़ी बातोंमें, इन बाहरी रूपोंमें, इन बाहरी स्नेहोंमें समय न गुजारें।

आत्मसव्यवहार—घरमें रहें गृहस्थजन तो इस तरह रहें जैसे जलसे भिन्न कमल है। सत्य बात समझते रहें। कमल जलमें रहता है फिर भी जलसे भिन्न है। जलसे ही पैदा हुआ है, जलमें ही पैदा हुआ है फिर भी जलसे अलग है। बल्कि उस जलमें यदि वह कमल स्पर्श कर जाय तो कमल सड़ जायगा, उसका विकास नहीं हो सकता। इसी तरह समझिये कि हम आप जिस घरमें रह रहे है, फिर भी यदि उस घरसे अपना सम्पर्क बनाया, मोह बनाया तो फिर हम आप पनप नहीं सकते। जितना घरसे विरक्त रहेंगे उतना ही हम अपना भला कर सकेंगे। एक ही निर्णय है। दूसरी बात प्रधान रूपसे अपने चित्तमें मत लाइये। मैं मैं हू, अपने आपके स्वरूपसे हू, किसी पररूप नहीं हू, मेरा अन्य कुछ नहीं है, किसीका मैं नहीं हू, मैं अकेला ही अपने आपमें अपना काम किया करता हू, मैं अकेला ही अपनी सारी सृष्टि किया करता हू, सारी जिम्मेदारी मेरे भविष्यके लिए मेरे अपने आपके अकेले पर ही है, दूसरा कोई मेरे लिए रंच भी मददगार नहीं है। ऐसा अपना पक्का निर्णय करिये। मेरा मैं ही अपना सुधार अथवा अपना बिगाड़ कर सकता हूं, अन्य कोई नहीं कर सकता। इन विषयकषायोंसे प्रतीतिपूर्वक हटें, इनसे अपनेको निराला रखें, और कुछ भी दिलमें दूसरेका बसायें, किसीका ध्यान न करें, अपने आपके ज्ञानको साफ रख लें, बस यही सच्चा धर्मपालन है। ध्यानमें यही किया जाता है। बड़े बड़े योगी पुरुष जगलमें रहकर यही किया करते हैं। यह बात गृहस्थीमें अधिकतर नहीं होती इसलिए गृहस्थी को छोड़कर योग धारण करना पड़ता है। लेकिन योगी भी मनुष्य है, गृहस्थ भी मनुष्य है। योगीके भी ज्ञान है, गृहस्थके भी ज्ञान है। जो बात योगी कर लेता है उस की झलक गृहस्थ भी कर सकता है। पर गृहस्थ थोड़ा कर पाता है क्योंकि

उसमें अनेक विघ्न आ जाते हैं। इसी कारण गृहस्थ मार्गसे मुक्ति नहीं प्राप्त होती, योग मार्गसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु मुक्तिमें जो आनन्द है, योगीजन जो आनन्द पाते हैं उसकी झलक उस गृहस्थको भी मिल जाती है जो गृहस्थ अपना सच्चा विवेक बनाये। तो ऐसे ये प्रभु मेरे चित्तमें सदा निवास करो।

याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिम्।
याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव ॥१८॥

जिन चरण भक्तिकी अभ्यर्थना— हे जिनेन्द्र भगवन्त! मैं तुम्हारे चरणकमलोंकी भक्तिको माँगता हूं, माँगता हूं। और फिर भी उस ही चरणारविन्द भक्तिको ही मैं माँगता हू। समाधिभक्त संत समाधिभक्ति की सिद्धिके प्रयोजनमें प्रभुगुण स्मरण कर रहा था। उस गुणस्मरणसे जो इसे आनन्द आया, जो इसे सत्पथका दर्शन हुआ उससे प्रसन्न होकर प्रभु से यही चाहता है, अन्य कुछ नहीं चाह रहा। साकार भगवानके चरण व्यवहार दृष्टिसे वन्दे जा रहे हैं और भगवानके भगवत् स्वरूपको निरख कर, भगवानके चरण हैं ज्ञान और दर्शन। ज्ञानदर्शनस्वरूप यह आत्मतत्त्व है। जिसका ज्ञानदर्शन विशुद्ध प्रकट हुआ है वही भगवान है। उसकी भक्तिको यह समाधिभक्त चाह रहा है। हम आप सब चेतन हैं। चेतनेका हम आपमें स्वभाव है। यहाँ चेतना सामान्यरूपसे और विशेष रूपसे होती है। पदार्थोंकी जो जानकारी है यह जानकारी विशेष चेतना कहलाती है। जब पदार्थोंके इस विविधरूपका भान नहीं रहता और केवल एक सत्त्वका ही भान रहता है तो उसे कहते हैं सामान्य चेतना। हम आपका बस एक यही है मूलमें वैभव। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी हम अपना बनाना चाहते हैं वह सब मोहका अंधेरा है। इस ज्ञानदर्शन स्वरूप पर दृष्टि जाय तो आत्माको सच्चा प्रकाश मिला समझिये।

पदार्थकी एकत्वविभक्तताके ज्ञानसे आत्मलाभ—कोई भी पदार्थ होता है तो उसका कुछ निजी स्वरूप होता है। ऊपरी बातें कितनी भी लगा दी जायें उन सब अन्य पदार्थोंके सम्पर्क होने पर भी सबका निजी निजी स्वरूप स्वयंमें रहता है। जैसे पानीमें तेल मिला दिया गया तो तेलका स्वरूप तेलमें और पानीका स्वरूप पानीमें पड़ा हुआ है। वे तेल और पानी तो खैर न्यारे-न्यारे जच रहे हैं लेकिन दूध और पानीको मिला देने पर उन्हें तेल और पानीकी भाँति अलग-अलग नहीं समझा जा सकता। दूधमें पानी उस त हसे तो नहीं तैर रहा जिस तरहसे पानीमें तेल। वे दूध और पा बिलकुल एकमेक हो जाते हैं, घुलमिल जाते हैं, इतने पर भी दूधके क कणका स्वरूप पानीमें है। दूध पानी एक नहीं हो गए। ऐसे ही आप स मिये कि यहाँ कितने भी बाह्य पदार्थोंका सम्बंध हो जाय, शरीर भी

मोहविकल्पोंकी स्वप्नसमता—जितनी देरको मोह जग रहा उतनी देर को यह स्वप्न जैसी बात चल रही है समझिये। जैसे कोई ऐसा स्वप्न आया कि हमे बड़ा राजपाट मिल गया, बड़े अच्छे सुखके साधन मिल गए, बड़े ठाठबाट हैं, तो वह स्वप्नका ठाठबाट कितने समयका है? वही दो चार मिनटका, जब तक कि वह स्वप्न चल रहा है। और जहाँ ही वह स्वप्न मिटा, आँखें खुलीं, बस वह सारा ठाठबाट मिटा। वह सुख तो केवल कल्पनाका है। साधन कुछ नहीं है। है उसका कुछ नहीं। ऐसे ही मोहकी नींदमें यह १०-२० ४० वर्षका स्वप्न है। जब मोह नष्ट होता है, अज्ञान नष्ट होता है, नींद खुलती है तो ये ही सारी चीजें इसके लिए फिर कुछ नहीं रहतीं। तो ऐसा स्वप्न जैसा मिलाप हुआ है। बुद्धिमानोंका तो यह कर्तव्य है कि इस स्वप्न जितने मिलापमे धार्मिक समागम बनाकर, ज्ञानप्रचार करके, ज्ञानमय अपना जीवन बनाकर दूसरोंको भी मुक्तिके मार्ग में लगायें और खुद भी मुक्तिके मार्गमें लगें, यह है असली प्रीति। घरमें रहने वाले पति, स्त्री, पिता, पुत्रादिक, इन सबका परस्परमें यदि ऐसा व्यवहार बने कि एक दूसरेको धर्ममें चलनेकी प्रेरणा मिले ज्ञानार्जनमें बढ़नेकी प्रेरणा मिले, परस्परमें आत्मतत्त्वकी चर्चायें हुआ करें ऐसा यदि जीवन बने तो घरमें रहने वालोंकी वह प्रीति सच्ची प्रीति समझिये, और ऐसा विषय साधनेके लिए, मोह बढ़ानेके लिए ही यदि परस्परका राग भरा व्यवहार रहा तो ये दिन तो रहेंगे नहीं, निकल जायेंगे, फल इसका यह होगा, मरण तो होगा ही, दुर्गतियोंमें, किन्हीं भी भवोंमें भ्रमण करेंगे। इस पाये हुए दुर्लभ नरजीवनसे कोई फायदा नहीं उठाया जा सकता। तो इस झूठे मोहसे हटकर आत्माका जो सत्यस्वरूप है उस सत्यस्वरूपमें उपयोग ले जाना है। देखिये जब ज्ञान ज्ञानस्वरूप निजमें प्रविष्ट हो जायगा फिर दुनियामें कहीं कुछ हो, उससे आपको कोई नुकसान नहीं, कोई दुःख नहीं। तो चाहे कितनी ही स्थितियोंमें फँसे हों, कितने बाहरी काम अधूरे पड़े हों, कितनी ही व्यवस्था अधूरी रह गयी हो, निर्णय यही रखना होगा कि यह मैं ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपमें निमग्न हो जाऊँ, फिर मेरे लिए कुछ भी अधूरा नहीं है, कुछ भी अव्यवस्था नहीं है, यही सर्वसंकटोंसे छूटनेकी स्थिति है। अपनेमें आत्मानुभूतिके लिए प्यार जगाना चाहिए। बाह्य वस्तुवोंके प्रति जो प्रीति जगती है वह तो व्यर्थ है, अनर्थ है।

प्रभुभक्तिमें शुद्ध तत्त्वका अनुराग—प्रभुका स्वरूप परमपावन ज्ञान-दर्शनमय है। उसमें यह समाधिका भक्त पुरुष अपना उपयोग लगा रहा है और यही याचना कर रहा है कि हे प्रभो! आपके चरणारविन्दकी भक्ति

ही मुझे प्राप्त हो, मै यही माँगता हू, यही माँगता हूं, अन्य कुछ मेरी वाञ्छा नहीं है। प्रभुभक्ति व्यर्थ नहीं जाती। कोई अज्ञानी भी अगर प्रभुभक्ति करे तो अधिक लाभ उसे नहीं होता, फिर भी कुछ पुण्य तो बँध ही जाता है। न मोक्षका मार्ग उसे मिला, न सत्पथका दर्शन हुआ, लेकिन पुण्य तो हो ही गया। पाप बाँधता, नरकमें जाता, इससे तो अच्छा ही हुआ कि पुण्य बंध हुआ, देवगति मिली अथवा अच्छी मनुष्यगति मिली। इस पापकी अपेक्षा तो अच्छा ही है। अपेक्षाकृत कुछ लाभ तो है ही, लेकिन वह लाभ स्थायी नहीं है। पुण्योदयमें कुछ ऋद्धियाँ सिद्धियाँ प्राप्त हो गयीं, कुछ क्या मिल गया, लेकिन पापके परिणाममें उसे दुर्गतिमें जाना होगा, इसलिए अज्ञानीके पुण्य बधता है उससे उसे कुछ लाभ नहीं हुआ। थोड़ी देरको जरासा उसने सुख मान लिया वह भी आकुलता और क्षोभसे भरा हुआ है। इसी तरह सतोंका यह मूल उपदेश है कि सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करो। ज्ञान बिना उद्धार न होगा।

आत्माकी ज्ञानघनता व सारभूतता—ज्ञानसे आपको यह विदित हो जायगा कि यह मैं आत्मा आकाशकी तरह निर्लेप हूं तब मैं अमूर्त हू। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं, क्या कोई आत्मा काला पीला नीला आदिक है? क्या कोई आत्मा खट्टा मीठा आदिक है? क्या कोई आत्मा रूखा, चिकना आदिक है? जब आत्मामें रूप, रस, गध स्पर्श आदि कुछ नहीं हैं तो यह अमूर्त ही तो हुआ। आकाश भी अमूर्त है। जैसे आकाशमे आग जलायें। तलवार चलायें, धूल फेंकें तो उससे आकाशका सम्बंध नहीं होता। आकाश अपने आपमें निर्लेप हैं, इसी तरह यह आत्मा भी आकाशकी तरह अमूर्त है, इस कारण निर्लेप है, इसमें किसी दूसरेका सम्बध नहीं होता। यह आत्मा चेतन है, उपयोगस्वरूप है। मलिन दशाये कल्पनायें बनाता, इच्छा करता तो बस यह ही मलिनता है और इन मलिनताओंके कारण बाह्य चीजोंका सम्पर्क लगा हुआ है, इतने पर भी आत्मा अब भी अपने आपमें अमूर्त है। इसमे रूप, रस, गध, स्पर्श आदि मलिनतायें नहीं होतीं। ऐसा अमूर्त यह आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप है, इसकी शकल, इसका स्वरूप, इसका सर्वस्व ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानके सिवाय आत्मामें और कोई बात नहीं पायी जाती है। इसीलिए आत्माको ज्ञानपुञ्ज कहा गया है, आत्माको ज्ञानघन भी कहते हैं। घन उसे कहते हैं जिसके भीतर किसी दूसरी चीजका मिलाप न हो। जैसे कोई लकड़ी बिलकुल ठोस है तो लोग कहते हैं कि यह लकड़ी घन है और कोई पोली लकड़ी है तो लोग कहते कि यह लकड़ी तो बोगस है। तो ठोसमे, घनमें यह बात आ गयी कि यह लकड़ी सारभूत होकर निरन्तर वहीकी वही है।

...o0o...

पुस्तकें मंगाने का पता :—

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

मुद्रक :—मैनेजर, जैन साहित्य प्रेस, १८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।